।। श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ।।

श्रीपुष्पदन्ताचार्यप्रणीत-

श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्

की

प्रवचनात्मक व्याख्या

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्रीनिरञ्जनपीठाधीश्वर

श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज

मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट (रजि.)

१०४, तिलक बाजार चौक,

दिल्ली - ११०००६

द्वारा

प्रयागराज अर्ध कुम्भ सम्वत् २०६३ पर

धर्मार्थ वितरित



।। श्रीदक्षिणामूर्तये नमः।।

श्रीपुष्पदन्ताचार्यप्रणीतं-

श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्

की

प्रवचनात्मक व्याख्या



प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्रीनिरञ्जनपीठाधीश्वर
श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज

प्रकाशक

मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट (रजि.)

१०४, तिलक बाजार चौक,

दिल्ली - ११०००६

द्वारा

प्रयागराज अर्ध कुम्भ सम्वत् २०६३ पर

धर्मार्थ वितरित

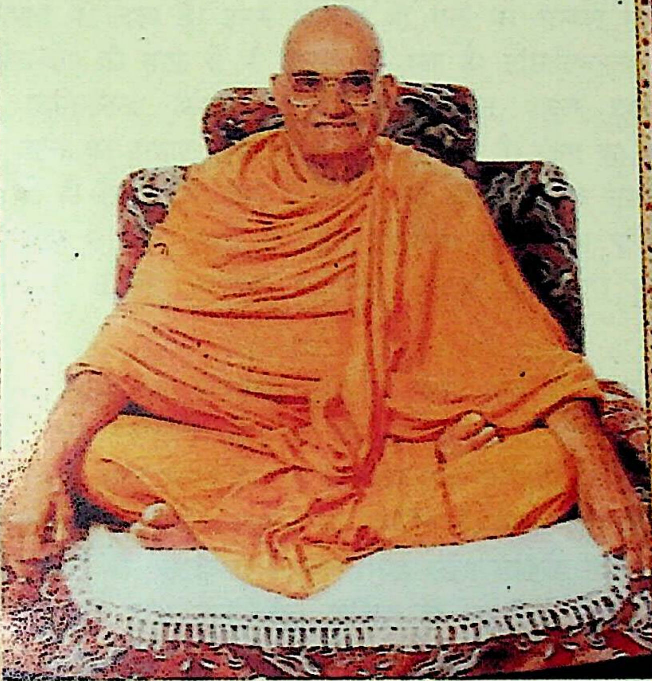
द्वितीय आवृति

मुद्रक

श्रीजी प्रिण्टर्स

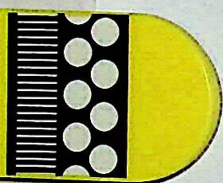
जे. १२/५ नाटी इमली, वाराणसी

फोन नं. : ०५४२-२२०११०४, ३२५७३२९



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीनिरञ्जनपीठाधीश्वर

श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज



प्रकाशकीय

विश्व जनमानस में भक्ति शब्द बहु व्यापक है। इस शब्द के अनुभव से ही समर्पण का बोध होने लगता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का आत्ममन्थन भक्ति का बीज है। संसार की अनन्त इच्छाएँ और वासनाएँ जीव के शिवभाव को ढक लेती हैं; परन्तु जीव अपने शिवभाव को भूल नहीं पाता। सदा सलिला सरिताओं का समुद्र ही जैसे गन्तव्य है वैसे ही सभी क्रियाओं का अवसान भक्त भगवान् में ही मानता है। भक्ति किसी विधा में हो यह मानसकर्म है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना से किया गया चिन्तन भगवान् के प्रति भक्त का समर्पण, महाभाव की दशा है। इसमें आराध्य ही भक्त का सम्बल होते हैं। भक्त अपने योग-क्षेम की तरफ से भी विमुख हो जाता है। सांसारिकभाव, राग-द्वेष, संकल्प, स्तुति-निन्दा, अपेक्षा, अहंकार, मान-अपमान, शत्रुता, दुर्गुण की गुरुता से भरे व्यक्ति का उत्थान किसी भी तरह सम्भव नहीं है। गीता का बारहवाँ अध्याय भक्त को ही समर्पित है। वहाँ आत्मोन्नति का अत्यन्त सहज सरल मार्ग बताया है। भगवान् ने निन्दा-स्तुति से रहित, सर्वारम्भ-शुभ-अशुभ परित्यागी, शीतोष्ण-सुख-दुःख सहिष्णु, अनपेक्ष, अनिकेत, सन्तुष्ट आदि गुण भक्त के बताये हैं।

स्तोत्र या स्तुति उस काव्यमयी कृति को कहा जाता है, जिसमें भक्त प्रभु के प्रति अपने मनोभावों को गेय और सुमधुर शब्द रचनावली द्वारा आलंकारिक शैली में प्रकट करता है। यह आलंकारिकता कृत्रिमता नहीं है अपितु भक्त का अपना सर्वस्व है जो परमात्मा को समर्पित है। भाषा और भावों की प्रधानता और विचारों की अप्रधानता के कारण यह स्तोत्र साहित्य व्यक्ति विशेष या किसी खास समय गाया जाने वाला साहित्य ही रह गया। आरती इसका और भी सरलतम रूप है। शिवभक्त गन्धर्वराज पुष्पदन्ताचार्य रचित **'श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्'** स्तोत्र वाङ्मय का मुकुटमणि है। इसकी सरस शब्दावली गेय काल में समाधि का बोध कराती है तो विचारों की गम्भीरता आत्मतादाम्य का। भावों की सरलता और विचारों की दार्शनिकता का इस स्तोत्रराज में अपूर्व समन्वय है। इसीलिए भक्तजनों के अतिरिक्त दार्शनिक समाज में भी इसका विशेष स्थान है। भावों के साथ गूढ दार्शनिक विचारों का वर्णन सभी शिवस्तोत्रों की विशेषता है। प्रस्तुत स्तोत्र की व्याख्या करते हुए परम

दार्शनिक आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इसके सप्तम श्लोक 'त्रयी सांख्यं योगः...' पर विशेष व्याख्या लिखी है, इसे आधुनिक शब्दों में भारतीय दर्शनशास्त्र की भूमिका कहा जा सकता है।

आशुतोष सदाशिव को समर्पित यह स्तोत्र पुराणशास्त्रों में आयी हुई भगवान् शंकर की लीलाओं को भी प्रकट करता है, जिससे रोचकता और भी बढ़ जाती है। शिखरिणी छन्दों में बद्ध यह स्तोत्र गायन और श्रवण में बहुत सुखद है। पर्वत शिखर पर जैसे धीरे-धीरे चढ़कर हम अपना मनोरथ पूराकर लेते हैं, वैसे ही कैलासवासी सदाशिव का सायुज्य भी दूर नहीं रह जाता। स्तोत्र की भाषा और भाव की गम्भीरता के कारण हिन्दी भाषा में व्याख्या का आग्रह पूज्यपाद महाराज श्री जी से किया जा रहा था। यह कार्य श्री बिशन दास मेहता जी द्वारा आयोजित 'श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्' प्रवचनमाला सन् नवम्बर १९९९ महेश नगर ओंयल हि.प्र. में सम्भव हो सका। मेहता चेरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट-दिल्ली द्वारा इसे दूसरी बार प्रकाशित करके धर्मार्थ एवं निःशुल्क वितरित किया जा रहा है। प्रवचन के कैसेटों की प्रतिलिपि, प्रेसकॉपी और पूर्व सम्पादन एक कठिन और धैर्य का कार्य था। इस सेवाकार्य को **सुश्री मंजरी झुनझुनवाला, वाराणसी** ने बड़ी लगन और श्रद्धा से पूरा किया। ट्रस्ट के अन्य प्रकाशनों में भी इनका पूरा सहयोग रहा है। इस सेवाकार्य के लिए ट्रस्ट द्वारा बहुत आभार प्रकट किया जाता है।

–प्रकाशक

श्रीशिवमहिम्नः स्तोत्र

भूमिका

भगवत्प्राप्ति भक्तिपूर्वक साधनानुष्ठान से सुलभ है। लोगों को यह भ्रम है कि परमेश्वर की प्राप्ति में समय की बड़ी अपेक्षा होती है। इसमें समय की अपेक्षा नहीं, अपितु भावना की तीव्रता की अपेक्षा है। अगर भावना में तीव्रता है तो परमेश्वर की प्राप्ति में विलम्ब नहीं है। तीव्रता अर्थात् यह निश्चय कि हमें यह चीज़ चाहिए चाहे जितना समय लगे। तदपेक्षया जिसमें तीव्रता नहीं होती, उसे हमेशा कोई दूसरा विकल्प दीखता है। जब तक विकल्प दीखता है तब तक तीव्रता नहीं है।

एक बार देवर्षि नारद जा रहे थे। एक जगह एक महात्मा बड़ी कठिन तपस्या कर रहे थे। नारदजी उसकी तपस्या से बहुत प्रभावित हुए और उससे बोले, ''अरे! मैं नारद हूँ, तुमको कुछ पता लगवाना हो तो लगवा लेना।'' उसने कहा, ''भगवान् से पूछना कि मुझे इतना समय हो गया है, और अब कितना समय बाकी है? मुझे परमात्मा की प्राप्ति कब होगी?'' नारदजी ने कहा, ''ठीक है। मैं जाऊँगा तो पता लगाऊँगा।'' घूमते-घूमते नारदजी दूसरी जगह पहुँचे, तो वहाँ भी एक सन्त तपस्या कर रहे थे। उनसे भी ऐसा ही जिक्र हुआ तो उन्होंने भी ऐसा ही पूछा कि भगवान् की कृपा कब होगी- यह पता लगवाना है।

नारदजी जब वैकुण्ठ पहुँचे तो अनेक बातें करने के साथ इन दो महात्माओं की बातें भी कही। भगवान् ने ऐसा सुनकर कहा कि 'पहले-वाले को अभी सात जन्म और लगेंगे। सात जन्मों तक तपस्या करेगा तब मुझे प्राप्त करेगा।' और दूसरे के लिए कहा कि 'जिस पेड़ के नीचे वह खड़ा है, उस पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने जन्म जब गुज़र जायें, तब उसे मेरी प्राप्ति हो जायेगी।'

घूमते-घूमते नारदजी पहले वाले के पास कुछ समय बाद पहुँचे। महात्मा ने नारदजी का बड़ा आदर किया और पूछा कि क्या हमारी बात पूछने का मौका मिला। नारदजी बोले, ''हाँ-हाँ, भाई, पूछी थी। भगवान् ने कहा कि अब केवल सात जन्म बाकी हैं, सात जन्म बीतते ही तुम्हें भगवान् मिल जायेंगे।'' उसने

कहा, ''क्या कहा? सात जन्म! मेरी जैसी घोर तपस्या करने वाले के लिए! बेकार तुम भी, बेकार तुम्हारा भगवान् भी। इससे तो अच्छा है कि घर जायें, खायें, पीयें, मौज करें। यह सब झूठ है। सात जन्म!''

नारदजी वहाँ से चले और सोचा कि अरे! यहाँ तो मुझे और भगवान् को इतनी गालियाँ बक रहा था, दूसरे महात्मा को कहेंगे कि 'जितने पत्ते उतने जन्म' तब कहीं वह मार न दें! नारदजी तैयार होकर गये कि अगर मारेगा तो झट भाग जायेंगे। नारदजी वहाँ पहुँचे। उसने भी बड़े आदर से सेवा की। फिर पूछा, ''महाराज! आपने पूछा?'' नारदजी बैठे थे, खड़े हो गये कि कहीं भागने की जरूरत न पड़ जाये। नारदजी ने कहा कि 'भगवान् ने कहा है कि इस पेड़ में जितने पत्ते हैं उतने जन्म बीतेंगे, तब तुम्हें परमात्मा की प्राप्ति होगी।' गुस्सा होने के बजाय वह तो खुशी से नाचने लगा! ''भगवान् कितने दयालु हैं, करुणामय हैं। अनन्त जन्मों से मैं संसार-चक्र में पड़ा रहा। अनन्त कल्प बीत गये। अनन्त सृष्टियाँ हो गयीं और अनन्त सृष्टि के अन्दर मेरे अनन्त जन्म हो गये। उन सब में मैं संसार में लगा रहा। अब परमात्मा की तरफ लगा तो भगवान् ने सीमा तो बाँध दी। पेड़ में बस थोड़े से पत्ते हैं। इन्हें निकलने में क्या देरी लगेगी! भगवान् बड़े दयालु हैं। आप भी धन्य हैं। भगवान् भी धन्य हैं। आप लोगों की ऐसी कृपा! भगवान् परम करुणामय हैं।'' नारदजी ने सोचा, '''देखो! दोनों में कितना फर्क है। पहले वाले में संसार के प्रति वास्तविक वैराग्य था ही नहीं। अतः उसने सोचा कि जल्दी हो जाए तो ठीक वरना खाने-पीने-मौज को कौन छोड़े। जबकि दूसरे के मन में ये विचार हैं।''

नतीजा यह होता है कि ऐसी तीव्रता वाली भावना वाले के सामने भगवान् तुरन्त प्रकट हो जाते हैं क्योंकि जिसने अनात्मपदार्थों से मन को हटाया उसके लिए परमात्मा सुलभ हैं। यह बात हमेशा याद रखनी है। प्रायः जब परमात्मा के विषय में विचार होता है तो आजकल के युग में प्रत्येक व्यक्ति सुविधा की दृष्टि से सोचता है कि परमात्मा की प्राप्ति भी सुविधा से हो जाए तो अच्छा है!

सुविधा को तभी ढूंढा जाता है जब उस कार्य में आनन्द न हो। परमेश्वर की प्राप्ति से कुछ कम आनन्द परमेश्वर की प्राप्ति की साधना का है। तुम्हें नागपुर

पहुँचना है। पहुँचोगे, जब नागपुर आयेगा तब तुम्हें पूरी प्रसन्नता होगी। नागपुर - १०, नागपुर - ९, नागपुर - ८ प्रत्येक पत्थर देखकर तुम्हें प्रसन्नता होगी कि हम नज़दीक पहुँच रहे हैं। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में साधना करने वाले व्यक्ति को प्रत्येक सोपान पर प्रसन्नता होती है कि इतनी सीढ़ियाँ पार हो गयीं, अब इतनी ही बचीं।

परन्तु जिसमें तीव्रता की कमी होनी है, वह कहता है कि इसकी अपेक्षा तो कढ़ी-चावल अच्छा था! वर्तमान काल में वैराग्य की कमी के कारण परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में लोग सुविधा सोचते हैं, यह तीव्रता की कमी है। और जहाँ तीव्रता की कमी होगी, वहाँ परमात्मा की प्राप्ति हो नहीं सकती। जब तक अनात्मा से मन न हटे तब तक आत्मा में मन जाये कैसे? इसलिए आचार्य शंकर कहते हैं - 'वैराग्यस्य फलं बोधः' वैराग्य का फल ज्ञान है।

परमात्मा की प्राप्ति के प्रति ऐसी तीव्रता हो कैसे? चाहे जीवन के अन्तिम समय में ऐसी तीव्रता हो जाए, तो भी काम हो जाता है। परन्तु यह तीव्रता हो कैसे? तीव्रता का सबसे पहला साधन है - श्रवण। जितनी-जितनी परमेश्वर की कीर्तिका श्रवण करता है, उतनी-उतनी मनुष्य को परमेश्वर के विषय में अभिलाषा होती है। आज के जमाने में यह कहने की जरूरत ही नहीं। अखबारों में आजकल तीन-चौथाई क्या होता है? 'यह माल अच्छा है। यह माल अच्छा है। इस माल में यह अच्छाई है। इस माल में यह अच्छाई है।' एक चौथाई कुछ खबरें होती है। क्यों लोग इतने पैसे खर्च करते हैं? और अखबार ही नहीं, रेडियो, टेलीविजन, सर्वत्र विज्ञापन उपस्थित रहता है। उन चीज़ों की अच्छाई सुनते-सुनते, देखते-देखते उस तरफ आदमी प्रवृत्त होता ही है। इसी प्रकार जब परमेश्वर के विषय में बार-बार श्रवण करेंगे तो परमेश्वर की ओर चलने में तीव्रता आयेगी। प्रत्यक्ष तो हमें यह संसार दीखता है, परमात्मा तो प्रत्यक्ष दीख नहीं रहा है। क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय वह है नहीं अतः उसके बारे में तो सुनकर ही पता लग सकता है।

परमेश्वर का श्रवण कब होवे? जब उसकी कीर्ति का कोई बखान करे। परमेश्वर के विषय में किन सोपानों से चला जाता है? तो पहला सोपान यही कहा

कि परमेश्वर की महिमा का श्रवण करो और जब श्रवण किया तब उसका कीर्तन करो। कीर्तन का अर्थ होता है किसी की कीर्ति को कहना, वह चाहे पद्यमय कहो, गद्यमय कहो, गीतिमय कहो। कीर्तन का मतलब केवल यही नहीं कि एक ही नाम का बार-बार उच्चारण करो। कीर्तन का मतलब होता है- कीर्ति का कथन।

इसीलिये हम लोग प्रतिदिन महिम्नःस्तोत्र के पाठ का नियम रखते हैं। इस स्तोत्र में भगवान् शंकर की कीर्ति का, महिमा का वर्णन गन्धर्वराज पुष्पदन्त ने किया है। उस महिमा का बार-बार विचार करने से मन के अन्दर भगवत्प्राप्ति के लिये तीव्रता आती है। जब इसको बोलो तब शब्द का उच्चारण करने पर अर्थ का भान भी करना चाहिए क्योंकि तभी वह 'शब्द' होता है। दोनों चीजों में फर्क समझ लो : कोई आदमी यहाँ आकर रूसी भाषा बोले तो क्योंकि हम लोगों के कान तो ठीक हैं इसलिये हम वही आवाज़ सुनेंगे जो यहाँ बैठा रूसी व्यक्ति सुनेगा। कान से सुनने में तो फर्क आना नहीं है। परन्तु तुम उन ध्वनियों के 'शब्द' को ग्रहण नहीं कर सकते। कहाँ कौन-सा शब्द खत्म हुआ, कहाँ कौन-सा शब्द शुरु हुआ है- कुछ पता नहीं लगेगा। जिस भाषा को नहीं जानते उस भाषा के संस्कार से रहित अन्तःकरण है तो ध्वनि सुन सकते हो, उससे उसका 'श्रवण' नहीं हो पाता। क्या कहा जा रहा है यह नहीं समझ पाते।

अतः जब तुम इस स्तोत्र का पाठ करते हो और तुम्हें इसके शब्दों के अर्थ का भान होता रहता है, तब श्रवण होता है। और मुख से बोल रहे हो तो कीर्तन भी होता है। अतः श्रवण और कीर्तन ये दोनों साथ चलते रहते हैं। परन्तु यदि अर्थज्ञान है नहीं तो श्रवण नहीं हो पाता है, क्या महिमा गा रहे हो तुम्हीं को नहीं पता चलता! जब तुम्हीं को नहीं पता लग रहा है तब तुम्हारे कहने से दूसरे को क्या पता लगेगा! अतः सही मायने में कीर्तन भी सम्पन्न नहीं होता। इसलिए श्रवण और कीर्तन दोनों को सिद्ध करने के लिए 'क्या कहा जा रहा है' यह समझना जरूरी है।

समझते हुए कहते हो तो श्रवण के द्वारा धीरे-धीरे परमेश्वर के विषय में तुम्हारी तीव्र अभिलाषा जगती है। कीर्तन दूसरा सुनता है तो उसके द्वारा तुम्हें

पुण्य भी प्राप्त होता है क्योंकि शुभकार्य में किसी को प्रवृत्त करने पर और परमात्मा के कार्य में सहयोग करने पर हम पुण्य के भागी बनते हैं। भगवान् ने इसलिए कहा कि- 'कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।' 'मां कथयन्तः।' 'मुझे कहते हुए', 'माम्' का अर्थ जब परमेश्वर है- क्योंकि गीताशास्त्र के अन्दर भगवान् द्वारा कहे 'मैं' आदि शब्दों का अर्थ लक्ष्यभूत ब्रह्म है-तब वह वाणी से परे है, अतः साधना की प्रारंभिक अवस्था में उसका कथन क्या करोगे! अतः शुरु के साधक के लिये 'मां कथयन्तः' अर्थात् 'मेरी विभूतियों का, मेरे ऐश्वर्य का, मेरी महिमाओं का वर्णन करो।' ठीक जिस प्रकार अगर कोई व्यक्ति गांधी जी की महिमा का बखान करे तो कहेंगे, 'उन्होंने गांधीजी के बारे में प्रवचन दिया'। क्या गांधीजी की नाक को बतलाया, दाँत को बतलाया? क्या बताया? गांधीजी की महिमा को बतलाया। उन्होंने जो बड़े-बड़े कार्य किये वे बतलाये। गांधीजी के बारे में अर्थात् गांधीजी की महिमा का बखान।

इसी प्रकार 'माम्' का वास्तविक अर्थ तो है चिदानन्द, परन्तु चिदानन्द वाणी का विषय नहीं है। उस चिदानन्द का माया के द्वारा यह जो सारा विस्तार, उसकी महिमा, उसका ऐश्वर्य है, उसका वर्णन किया जा सकता है। अतः इस स्तोत्र का नाम 'शिवस्तोत्र' न रखकर 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' रखा अर्थात् शिव की महिमा का इसमें वर्णन है। उनकी महिमा सुनने-समझने से ही परमेश्वर-विषयक हमारी तीव्र अभिलाषा होती है।

श्लोक- १

महिमा का वर्णन प्रारम्भ करते हुए सबसे पहले कहते हैं-

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रें हर! निरपवादः परिकरः।।१।।

(पदच्छेदः)

महिम्नः पारं ते परं अविदुषः यदि असदृशी

स्तुतिः ब्रह्मादीनाम् अपि तद् अवसन्नाः त्वयि गिरः।
अथ अवाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
मम अपि एषः स्तोत्रे हर! निरपवादः परिकरः।।

(सान्वयार्थः)

हर! = हे पापों को हरने वाले! **ते** = आपकी, **महिम्नः** = महिमा की, **परम्** = अन्तिम, **परम्** = सीमा को, **अविदुषः** = नहीं जानने वाले का, **स्तुतिः** = स्तवन, **यदि** = अगर, **असदृशी** = जैसा होना चाहिये वैसा नहीं है, **तद्** = तो, **ब्रह्मादीनाम्** = ब्रह्मा, विष्णु, इंद्रादिक का, **अपि** = भी, **गिरः** = स्तवन, **त्वयि** = आपके, **अवसन्नाः** = अयोग्य ही है। (क्योंकि वे भी आपको पूर्ण रूप से नहीं जानते), **अथ** = यदि (ऐसा कहो कि) **सर्वः** = सभी लोग, **स्वमतिपरिणामावधि** = अपनी बुद्धि की पहुँच तक, **गृणन्** = स्तवन करने पर, **अवाच्यः** = दोष देने योग्य नहीं हैं, **मम अपि** = (तब तो) मेरा भी, **स्तोत्रे** = स्तवन करने का, **एषः** = यह, **परिकरः** = प्रयत्न, **निरपवादः** = दोषरहित ही है।

किसी की कीर्ति, किसी की महिमा को आदमी तभी गा सकता है जब पहले उस कीर्ति को, महिमा को भली प्रकार से जाने। अगर तुम किसी की कीर्ति को भली प्रकार से जानते ही नहीं तो तुम ऐसी विपरीत बात कहोगे जो उसकी कीर्ति ही नहीं हो पायेगी। वर्तमान काल में ऐसा बहुत जगह देखने में आता है। पहले किसी से कहते थे 'आप अमुक के बारे में कुछ कहियेगा', तो वह बैठकर उसकी जीवनी आदि पढ़कर उसके बारे में वक्तव्य तैयार करता था तब बोलता था। आजकल लोगों ने दस-पाँच बातें याद कर रखी हैं। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उपराष्ट्रपति, किसी के भी बारे में वे ही बंधे हुए दो-चार वाक्य कहते हैं। 'लोगों में उन्होंने शान्ति का प्रसार किया, प्रेम का प्रसार किया और लोगों का कल्याण किया, जनता का उद्धार किया है।' इस-प्रकार की बात सबके बारे में कह देते हैं। कई बार वे बातें वर्णनीय व्यक्ति के बारे में समीचीन होतीं ही नहीं पर वक्ता को पता ही नहीं! और अगर बाद में कोई उनसे पूछे कि, 'यह आपने इनके बारे में कैसे कहा?' तो बोलेंगे, 'भाई! बड़े आदमी सब एक जैसे हुआ करते हैं, जरूर ऐसा ही हुआ होगा।' ऐसी बातें कीर्ति नहीं होती। जानने वाला सोचता है

कि यह तो उसकी अपकीर्ति हो गयी। जो जिस बात या कार्य को ग़लत मानता रहा हो उसे उसके माथे मढ़ दें तो वस्तुत: उसकी अपकीर्ति ही हुई।

इसलिए इस स्तोत्र के प्रारंभ में कहते हैं कि आपकी महिमा जितनी है, उस सारी का पूर्ण दर्शन बिना किए आपकी महिमा गाना, कीर्ति गाना ठीक नहीं। 'अविदुषः', जो नहीं जानता है, उसके द्वारा महिमा गायी जाना ठीक नहीं है क्योंकि वह स्तुति नहीं होती, महिमा नहीं होती, 'असदृशी' अयोग्य हो जाती है, उचित नहीं रहती। लेकिन परमेश्वर के विषय में यदि कहो कि उनकी महिमा को पूरा जानो, तब स्तवन करो तो भी असंभव है। उनकी महिमा को पूरा कोई जान सकता ही नहीं! इसीलिए जब हम लोग भगवान् शंकर की पूजा समाप्त करते हैं, तब इस बात को याद करते हैं-

'तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर!
यादृशोऽसि महादेव! तादृशाय नमो नमः ।।'

आपकी वास्तविकता को मैं नहीं जानता हूँ। आप कैसे हैं? यह मैं नहीं जानता हूँ। अत: मेरी पूजा ठीक है, गैर-ठीक हैं, यह मैं कुछ नहीं कह सकता। यदि शास्त्रों में नियमों को देखने लगें तो इतने विस्तृत हैं कि सबको जानना मुश्किल और जान भी लो तो करना मुश्किल। इसलिए प्रार्थना करते हैं कि आप कैसे हैं यह आप ही जानते हैं अत: वैसे आपको मैं अपना सर्वस्व समर्पण करता हूँ। परमेश्वर की महिमा को जानना सम्भव नहीं है, सिवाय परमेश्वर के कोई उसकी महिमा को नहीं जानता है।

परमेश्वर का बड़ा विचित्र खेल है! 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। जिसने परमात्मा को जान लिया वह परमात्मा ही हो जाता है। ऐसा नहीं समझ लेना कि दस-पाँच परमात्मा हो जाते होंगे! अज्ञान के कारण ही हम अपने को और संसार को परमात्मा से अलग समझते हैं।

'अहमेव परं ब्रह्मेत्यस्यार्थस्याऽप्रबुद्धता ।
अविद्येति वयं ब्रूमो येह नास्ति सदात्मनि ।।'

'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' सुनते तो हैं लेकिन हमारा सुनना कैसा है? संस्कृत के बहुत से पण्डित ग्रन्थ पढ़ाते हैं, परन्तु उस ग्रन्थ के कुछ शब्दों का अर्थ क्या है यह उन्हें पता नहीं है। एक पण्डित जी पढ़ा रहे थे, शब्द आया 'उष्ट्र' किसी ने पूछ लिया, 'पण्डित जी उष्ट्र क्या होता है?' पण्डित जी ने कहीं बाँच रखा था कि 'ऊँट रेगिस्तान में उड़ता है', अत: उन्होंने कह दिया, ''उष्ट्रोनाम पक्षिविशेष:'' ऊँट एक चिड़िया होती है!

वर्तमान काल में आप लोग अनेक अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु उनके अर्थ का पता नहीं है। याद करवा देते हैं अंग्रेजी के शब्द की जगह हिन्दी का शब्द । परन्तु अंग्रेजी शब्द का अर्थ हिन्दी का शब्द नहीं हो सकता, अंग्रेजी शब्द का अर्थ तो कोई चीज़ क्रिया आदि है। ऐसे समझो : हमने तुम्हें याद करा दिया 'pot' मायने घड़ा। घड़ा एक शब्द है। हम कहें 'Bring a pot' तो तुमने एक कागज पर घड़ा लिखा और लाकर दे दिया! क्या तुग pot का अर्थ समझने वाले माने जाओगे? pot मायने घड़ा-यह शब्द नहीं है। उस का मतलब तो वह बर्तनविशेष है जिसके अन्दर दूध-पानी इत्यादि भरा जाता है। परन्तु प्राय: आदमी एक भाषा के शब्द का दूसरी भाषा में पर्याय को ही अर्थ समझ लेता है, अर्थ का पता नहीं लगाता। अनेक ऐसे शब्दों का लोग प्रयोग करते हैं जिनके अर्थो का उन्हें कुछ पता नहीं है। अर्थ पता लगाने का प्रयत्न भी नहीं करते हैं, बस यह मान लेते हैं कि 'हमने शब्द की जगह भाषान्तर का शब्द याद कर लिया तो हमने अर्थ जान लिया।'

शास्त्र बताता है कि यह सारा संसार अनन्त काल से, अनन्त काल तक, अनन्त है। अत: यह अनादि है। इसकी कोई कालसीमा नहीं, कोई दिक्सीमा नहीं, कोई वस्तुसीमा नहीं। ऐसा यह अनन्त संसार परमेश्वर की महिमा है। अत: उसका पार अर्थात् अन्त होना ही असम्भव है। इसलिए कहा- यदि आपकी महिमा जान लेने पर ही महिमा गाना ठीक होता तो ब्रह्मा विष्णु आदि ने जो महिमा गायी वह भी उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि आपके परम पार को तो ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवता भी नहीं जान सकते।

सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी ने विष्णु भगवान् को देखकर उनसे पूछा 'तुम

कौन हो?' विष्णु भगवान् ने कहा, "मैं तुझे पैदा करने वाला हूँ।" ब्रह्माजी ने कहा, "मुझे पैदा करने वाला! मैं दुनिया को पैदा करता हूँ। तू मुझे पैदा करने वाला कहाँ से आ गया? अगर तूने मुझे पैदा किया होता तो दुनिया भी बना ली होती।" दोनों में झगड़ा होने लगा। झगड़े का निपटारा न होते देख भगवान् शंकर ने एक ऐसे ज्योति के खम्भे का रूप धारण किया जिसके न आदि का पता चलता था, न अन्त का। उसे देखकर भगवान् विष्णु ने ब्रह्माजी से कहा, "इसे क्या तूने बनाया?" ब्रह्मा बोले, "नहीं, मैंने नहीं बनाया। क्या तुमने बनाया?" विष्णु ने कहा, "नहीं, मैंने भी नहीं बनाया।" तो दोनों ने तय किया कि अपने झगड़े का निपटारा यही है कि जो इसका अन्त देख ले, वही बड़ा माना जायेगा। दोनों ने कहा, "अच्छा, यह ठीक है।"

ब्रह्माजी रजोगुणी ज्यादा हैं, घमण्डी ज्यादा हैं। उन्होंने कहा, "ऊपर की तरफ मैं जाऊँगा।" विष्णु भगवान् सत्त्वगुणी हैं। उन्होंने कहा, "अच्छा, नीचे की तरफ मैं चला जाऊँगा।" हंस का रूप धारण कर ब्रह्माजी ऊपर गये, वराह का रूप धारण कर विष्णु भगवान् नीचे गये। हजारों दिव्यवर्ष तक जाते रहे पर ज्योतिर्लिंग के अन्त का पता नहीं लगा। अन्त में दोनों के मन में आया कि 'इसका तो पता लग नहीं सका, वापस चलो।' ब्रह्माजी रजोगुणी थे। उन्होंने सोचा कि 'वापस गये और अगर विष्णु ने पता लगा लिया होगा तो मेरी हेठी हो जायेगी, मुझे नीचे देखना पड़ेगा।' ब्रह्माजी ने उसी समय से झूठ और घूस चला दी। उन्होंने सोचा कि 'मैं कहूँगा कि मैंने पार पा ली है, मैं ऊपरी छोर देख आया हूँ।' झूठ बोलने वाले को हमेशा डर रहता है कि सामने वाला पूछेगा तो सिद्ध कैसे करेंगे, अतः वह गवाह तैयार रखता है। ब्रह्माजी ने भी दो गवाह बना लिये। एक गाय को गवाह बनाया। उसे कहा कि, 'तुम कहना कि मैं उसके ऊपर खड़ी हुई थी और अपने थन से दूध का अभिषेक कर रही थी।' और एक फूल को, केतकी को गवाह बना लिया कि, 'तू कहना कि "मैं वहाँ सिर पर चढ़ा था।" दोनों गवाहों को झूठ बोलने के लिये प्रलोभन भी दे दिया, घूस दे दी। दोनों को साथ लेकर ब्रह्मा जी वापस आ गये।

उधर विष्णु भगवान् भी लौट आये। विष्णु भगवान् सत्त्वगुणी थे, उन्होंने

सीधी-सीधी बात कही, 'मुझे तो पता नहीं लगा इसका अन्त कहाँ है?' ब्रह्माजी ने कहा, 'मैंने पता लगा लिया है और देखो! ये दो गवाह भी साथ लाया हूँ।' तब से आदमी जब भी कभी झूठ बोलता है तो झट से गवाह देता है। हमसे कई बार लोग ग़्लत कहते हैं और झट से कहते हैं, 'उससे पूछ लो।' हम समझ लेते हैं कि जरूर झूठ बोल रहा होगा तभी गवाह पेश कर रहा है!

जब ब्रह्माजी ने यह कहा तो उस ज्योतिर्लिंग से आवाज आयी, 'अरे ब्रह्मा! तू लोकपाल होकर सारे संसार का अधिपति होकर इस तरह झूठ बोलता है! विष्णु तो मेरे जैसे पूज्य होंगे, पर तू नहीं होगा।' अतः बहुत कम जगह ही कहीं ब्रह्माजी का मन्दिर मिलता है। विष्णु भगवान् की प्रशंसा में कहा, ''तू मेरे जैसा ही पूज्य होगा। जैसे मेरी पूजा होती है वैसे तेरी भी पूजा होगी।'' इसलिए शिव और विष्णु इन्हीं दो की प्रधान रूप से अपने यहाँ पूजा होती है। लिंग ने गाय से कहा 'इतनी योग्य होकर भी तूने जीभ से झूठ बोला इसलिए तू अपनी जीभ से गंदगी खायेगी।' अतः कहीं भी टट्टी पड़ी होवे तो गाय झट से खा जाती है। याद रखना, एक बार झूठ बोलने के कारण गाय को गन्दगी खानी पड़ती है। आप लोग तो सत्संगी हैं झूठ बोलते नहीं, लेकिन जो झूठ बोलते हैं, उन्हें बता देना कि झूठ बोलने का क्या फल भोगना पड़ता है। उस फूल से कहा, 'तू तो जड है, पौधा है। परन्तु तू कभी भी मेरे ऊपर नहीं चढ़ेगा। तूने कहा, 'मेरे ऊपर चढ़ा हुआ था' तो हमेशा के लिए तेरा बहिष्कार है।' भगवान् शंकर को इसीलिए केतकी का फूल चढ़ता नहीं।

इस प्रकार पुष्पदन्त कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु आदि भी उनकी महिमा के पार को नहीं जानते। तो उनके द्वारा कही स्तुति भी वैसी ही असदृशी हो जायेगी, जैसी मेरे द्वारा कही हुई स्तुति।

यदि 'स्वमतिपरिणामावधिगृणन्' परम पार न जानने पर भी जिसने जितना समझा है, वह उतना कहे तो ठीक है, तब मेरा प्रयास भी उचित ही ठहरेगा। जिस प्रकार आकाश के पार न तो चील जा सकती है, न गिद्ध, न गरुड ही जा सकता है तो मच्छर की क्या संभावना! मच्छर मक्खी अपनी योग्यता के अनुसार दस-बीस गज उड़ सकते हैं, चील सैकड़ों मील उड़ती जाती है, गरुड उससे भी

आगे चले जाते हैं! अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सब उड़ते हैं अत: कोई उन्हें दोष नहीं देता, कि, 'जब आकाश पार नहीं करते तो उड़ते ही क्यों हो?' चाहे सैकड़ों मील उड़ लो, आकाश कोई पार नहीं कर सकता। अत: जब आदमी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता है तब वह पर्याप्त समझा जाता है।

परमेश्वर के मार्ग में यह बड़ी सुविधा है। संसार के बाकी सब व्यवहारों में तुमने 'कितना किया' यह तौलते हैं। भगवान् शंकर यह नहीं देखने। तुमने अपनी पूरी सामर्थ्य से किया तो चाहे थोड़ा-सा भी किया, वह उन्हें प्रिय है। काशी विश्वनाथ की पूजा करने के लिए कोई व्यक्ति चालीस रुपयों में सुन्दर रजनीगंधा की माला लाकर चढ़ाता है, भगवान् की पूजा करता है, शुद्ध केसर सहित चदंन घोटकर त्रिपुण्ड्र लगाता है। पीछे से एक बुढ़िया आती है, लाठी टेकती हुई। उसकी फूटी लुटिया है जिसमें छिद्र को अंगुली लगाकर रोका है ताकि सारा पानी बह न जाये। गंगा स्नानकर जल लेकर आती है। दो आने की आठ हजारे के, गेंदे के फूलों की माला चढ़ाने को लेकर आती है। लुटिया का पानी डालकर केसर युक्त चदंन धो देगी, सुन्दर माला हटाकर अपनी दुअन्नी की हजारे की माला चढ़ा देगी। कोई वहाँ यह नहीं कह सकता कि, 'यह क्या कर रही हो?' क्योंकि वह भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार लकड़ी टेकती हुई आयी है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही उसने दुअन्नी की माला चढ़ाई है।

भगवान् शंकर की यह विशेषता है कि जितना तुम कर सकते हो, अपनी सामर्थ्य के अनुसार उतना तुमने यदि कर लिया तो वे ठीक मानते हैं। अत: पुष्पदन्त कहते हैं कि यदि अपनी सामर्थ्य के अनुसार करने से कोई दोष का भागी नहीं होता तो मैं भी आपकी महिमा का पार जाने बिना जो स्तुति गाने जा रहा हूँ, जो परिश्रम करने जा रहा हूँ, वह भी अपवाद से, दोष से रहित है।

जितना तुमने परमेश्वर के विषय में श्रवण किया उतना ही तुम उनका कीर्तन कर सकते हो। कई बार आदमी कहता है कि, 'अरे! अभी हमने पूरा नहीं समझा है। हम क्या बतायें?' जितना तुमने समझा, उतना ही बताओ। पूरा समझने वाले तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं हैं! परन्तु कहना किस भाव से है? 'मैं अपने कल्याण के लिये कीर्तन कर रहा हूँ, परमेश्वर की कीर्ति गा रहा हूँ।' यह

नहीं कि 'मैं सुना रहा हूँ दूसरे के कल्याण के लिए।' अपने कल्याण के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार परमेश्वर का जितना स्तवन कर सको, उतना करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

श्लोक में सम्बोधन है 'हर'। 'हर' का मतलब होता है हरण करना। तात्पर्य है कि हमारे सारे कर्मों और अपराधों को आप ही हरण करने वाले हैं। हम तो गलतियों से भरे हुए हैं, हमारी गलतियों को आप ही हरेंगे। 'हर' इस सम्बोधन के द्वारा बतला दिया कि मेरा यह परिकर, स्तवन का श्रम अपवाद से इसीलिए रहित है कि इसकी कमियों को आप ही हरण करेंगे। 'आप हरण करें' इस इच्छा से 'हर' यह सम्बोधन किया।

श्लोक - २

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः।।२।।

(पदच्छेदः)

अतीतः पन्थानम् तव च महिमा वाङ्मनसयोः
अतद्व्यावृत्त्या यं चकितम् अभिधत्ते श्रुतिः अपि।
सः कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे तु अर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः।।

(सान्वयार्थः)

तव = आपकी, **महिमा** = बड़ाई, **वाङ्मनसयोः** = वाणी और मन की, **पन्थानम्** = पहुँच से, **अतीतः** = दूर है, **च** = ही (क्योंकि), **यं** = जिसका (वर्णन), **श्रुतिः** = वेद, **अपि** = भी, **चकितम्** = डरकर, **अतद्व्यावृत्त्या** = निषेध मुख से, **अभिधत्ते** = करता है, **सः** = वह, **कस्य** = किसकी, **स्तोतव्यः** = स्तुति का विषय हो सकता है (क्योंकि), **कतिविधगुणः** = उसके सगुण रूप में कौन से गुण नहीं हैं? (अर्थात् अनन्त गुण हैं), **कस्य** = (उसका निर्गुण रूप) क्या किसी का (किस वाणी या मन का), **विषयः**

= विषय हो सकता है? (फिर भी), अर्वाचीने = भक्तों पर कृपा करके धारण किये हुए, पदे = पंचमुखादि रूपों में, तु.= तो, कस्य = किस प्राणी का, मनः = मन, न पतति = नहीं लगता है? वचः = (और) वाणी, न = नहीं, (पतति) = (प्रवेश करती?)।

(वेद भी गलती न हो जाय इस भय से सगुण रूप का वर्णन तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"–सभी कुछ ब्रह्म है–इस प्रकार और निर्गुण रूप का वर्णन "नेति नेति"–वह यह सब नहीं है–इस प्रकार करता है।)

परमात्मा के तीन रूपों का वर्णन शास्त्रों में है। एक है सगुण साकार रूप। एक है सगुण निराकार और एक है जिसमें न गुण है, न आकार है, बिल्कुल निराकार। सगुण निराकार में गुण तो है पर आकार नहीं और सगुण साकार में गुण भी है, आकार भी। ये तीनों परमेश्वर के रूप हैं। इनमें निर्गुण निराकार की एकता के बारे में तो संदेह उठता ही नहीं, क्योंकि गुण और आकार को लेकर ही भेद-प्रतीति हो सकती है। वहाँ गुण भी नहीं, आकार भी नहीं अतः भेद की संभावना नहीं।

सगुण निराकार के अन्दर यद्यपि गुण के भेद से भेद की सम्भावना है, फिर भी प्रायः हम लोग आकार के भेद से भेद को स्वीकार करते हैं। अतः वहाँ भी किसी न किसी प्रकार से एकता समझ में आ जाती है। वहाँ भी एकता को समझने में ज़रा कठिनाई होती है। परमेश्वर का सृष्टि करने वाला रूप और परमेश्वर का संहार करने वाला रूप विभिन्न गुणों के कारण एक दूसरे से विरुद्ध लगता है। जो सृष्टि करने वाला वह संहार करने वाला कैसे होगा, जो संहार करने वाला वह सृष्टि करने वाला कैसे होगा? यह भी मन में शंका होती है कि यदि संहार करने वाला वही है तो सृष्टि की ही काहे के लिए? और यदि सृष्टि उसने की तो संहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि न्याय है–'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' अगर तुमने जहर का भी पेड़ बो दिया, बड़ा कर दिया, तो अपने हाथ से लगाये हुए पेड़ को खुद ही काटें, यह शोभा नहीं देता। ठीक इसी प्रकार जब परमेश्वर ने सृष्टि कर दी तब खुद ही उसका संहार करें यह बात समझ में नहीं आती। इसलिए सगुण निराकार के विषय में भी काफी मतभेद चलता है।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण- इन गुणों से गुण वाले परमेश्वर में भेद की प्रतीति होती है।

जहाँ गुण नहीं, आकार नहीं, वहाँ भेद तो सर्वथा ही नहीं प्रतीत हो सकता। जहाँ गुण है पर आकार नहीं, वहाँ भेद की प्रतीति होती है, पर उतनी स्थूल रूप से नहीं।

सगुण साकार रूप में आकारों का भेद सामने आता है। आकारों का भेद होने से लोगों को प्रतीति होती है कि ये सब अलग-अलग हैं। वर्तमान काल में सनातनियों पर यही आक्षेप होता है कि 'आप एक ईश्वर को न मानकर अनेकों को मानते हैं।' जबकि वास्तव में सनातनी निश्चित मानता है-'एकोदेव: सर्वभूतेषु गूढ:।' एक ही देव सारे प्राणियों में विद्यमान है। अत: सनातनी अनेक ईश्वरवादी नहीं है, एक ही ईश्वर को वह मानता है। परन्तु दूसरों की मान्यता से हमारे यहाँ एक भेद है। यह जरा समझ लेना चाहिए : दूसरे मानते हैं कि अन्य देवताओं को *हटाने* से एक देवता बचता है। इसीलिए मोहम्मद साहब ने तीन सौ पैंसठ देवताओं की मूर्तियों को तोड़ा, केवल एक अल्लाह की मूर्ति को रहने दिया। मक्का में पहले तीन सौ पैंसठ मूर्तियाँ और थीं, उन सबको उन्होंने तोड़ा। गैरसनातनी कहते हैं कि मूर्तियों को तोड़ो तब एक बचेगा। इसी प्रकार ईसाई कहते हैं दूसरे के देवता झूठे देवता हैं। कहाँ तक झूठे है? अभी अमेरिका के अन्दर काफी हल्ला-गुल्ला चल रहा है। वहाँ की बेपटिस्ट चर्च ने एक पुस्तक निकाली है 'हिन्दुओं के देवता शैतान हैं।' हिन्दु लोग विरोध कर रहे हैं। परन्तु उस चर्च की इस एक बात का विरोध करना व्यर्थ है क्योंकि उनका सिद्धान्त ही यह है कि एकमात्र यहोवा को छोड़कर बाकी सब देवता झूठे हैं। बाकी सबको हटाकर एकमात्र यहोवा को रखना है यह उनके एकेश्वरवाद का स्वरूप है।

हमारे एकेश्वरवाद का स्वरूप है कि तुम किसी भी रूप में, किसी भी देवता के आकार की पूजा करो, समझना यह है कि उसमें रहने वाला परमात्मतत्त्व एक है। अत: सनातनियों के एकेश्वरवाद में दूसरे के देवताओं को *तोड़कर* एकेश्वर की स्थापना नहीं है। वास्तविकता जब समझते हो तब पता चलता है कि परमेश्वर है। इसलिए 'मातृदेवो भव' हम तो माता को भी साक्षात् परमेश्वर

मानकर पूजा करते हैं। माता की पूजा करके ही अनेक लोगों ने परमात्मा का साक्षात्कार किया है। एक पतिव्रता स्त्री, पति को परमेश्वर मानकर पति की ही पूजा करके पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं ही। किसी कारण से किसी ऋषि ने पतिव्रता को शाप दे दिया कि 'सूर्योदय होते ही तुम्हारा पति मर जाये।' उसने कहा, "ऋषि! आपने शाप दिया, पर अब सूर्योदय होगा ही नहीं!" उसने अपने संकल्प से सूर्योदय ही रोक दिया। सूर्य के उदय में रुकावट आयी तो सारी व्यवस्थाएँ गड़बड़ा गयी। सब लोग आकर उस स्त्री से प्रार्थना करने लगे कि वह सूर्य को उदय होने दे। उसने कहा कि, 'सूर्य उदय होगा तो मेरा पति मर जायेगा। अतः मैं उसे उदय नहीं होने दूँगी।' ऋषि भी अपनी बात पर पक्के रहे कि सूर्य उदय होने पर वह मरेगा अवश्य अतः उस सती ने कहा, 'मैं सूर्य को उदय ही नहीं होने दूँगी।' अन्त में सब लोगों ने मिलकर मध्यम मार्ग निकाला। देवताओं ने कहा कि 'ऋषि के शाप से सूर्य के उदय होते ही तुम्हारा पति मर तो जायेगा परन्तु उसके तुरन्त बाद फिर ज़िन्दा हो जायेगा। तुम्हारी भी बात रहेगी कि पति जिन्दा रहेगा और ऋषि की भी बात रहेगी क्योंकि दो-चार मिनट के लिये मर जायेगा।' जब उस सती ने इस बात को स्वीकार किया तब सूर्य पुनः उदय हुआ, उसका पति मरा और पुनः जीवित हुआ। इतनी सामर्थ्य को उसने केवल पति की उपासना से ही प्राप्त किया।

विचार करो कि ऐसा क्यों हो पाया? सती ने अपने पति के अन्दर परमेश्वर की वास्तविकता को समझ लिया था। देवताओं में जो रहता है वही माता में रहता है, पिता में रहता है, पति में रहता है, गुरु में रहता है, अतिथि में रहता है। अतः हम किसी मूर्ति को नकारने की बात नहीं कहते हैं। हम तो कहते हैं कि विचार करके देखोगे तो सब मूर्तियों में एक मात्र शिव ही पता चलेगा। मूर्ति को नकारने की जगह हम मूर्ति का बाध करते हैं। वेदान्त की विशिष्ट प्रक्रिया है बाध की। हम असत्य वस्तु को ज्ञान से हटाते हैं, बाध करते हैं। हम झूठ के प्रतीयमान रूप को नष्ट नहीं करते वरन् उसके बारे में निश्चय करते हैं कि 'इसकी वास्तविकता, इसकी सत्ता, एकमात्र परमात्मसत्ता के अधीन है, उससे स्वतन्त्र इसकी सत्ता नहीं है।'

जब तक इस बात को नहीं समझते हैं तब तक दूसरे लोग कहते हैं कि 'सनातनी अनेक देवताओं की पूजा करते हैं।' आचार्य सायण ऋग्वेद भाष्य – भूमिका के प्रारम्भ में लिखते हैं कि इन्द्र वरुणादि सब देवताओं के द्वारा एकमात्र परमेश्वर की ही पूजा की जाती है। ऋग्वेद भी कहता है – 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' इन्द्र, वरुण, मित्र इत्यादि नामों के द्वारा एक सत् ब्रह्म ही कहा जाता है। सत् एक ही है, गुणभेद से, आकारभेद से उसे अनेक नामों से कहते हैं। स्वयं अपने शरीर में देखो : 'मैंने आँख से देखा, मैंने कान से सुना, मैंने नाक से सूँघा' देखने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला एक है या अलग – अलग हैं? देखने वाला तब कहते हैं जब आँख से काम करे। सुनने वाला तब उसे कहते हैं जब कान की उपाधि स्वीकार करके काम करे। सूँघने वाला तब कहते हैं जब नाक की उपाधि धारण करता है। चलने वाला तब कहते हैं जब पैर की उपाधि को धारण करता है। बोलने वाला तब कहते हैं जब जबान की उपाधि को धारण करता है। इन उपाधियों के कारण देखने वाला, चलने वाला, सुनने वाला कहा जाता है। परन्तु क्या देखने वाला और चलने वाला अलग – अलग हैं? जैसे आँख आदि उपाधियाँ हैं वैसे ही परमेश्वर की अनेक उपाधियाँ हैं। उन सबके अन्दर भिन्न – भिन्न प्रकार से काम करनेवाला वह एक ही है। ब्रह्मा – शरीर में विष्णु – शरीर में, रुद्र – शरीर में, सभी शरीरों में परमेश्वर एक ही है। जैसे बड़े – बड़े काम करने के लिए वे महान् उपाधियाँ हैं वैसे ही हमारी माता भी एक विशिष्ट काम करने के लिए है, हमारे शरीर को पैदा करने के लिए है। उस परब्रह्म परमात्मा ने ही हमारी माता के शरीर को धारण किया है। मेरी माता की मूर्ति धारण करेंगे, तभी मुझे भी धारण करेंगे। इस प्रकार सारे प्राणियों के अन्दर वह परमात्मा ही निहित है।

सर्वत्र निहित होने पर भी जहाँ उसकी महिमा हमें अनुभव में आती है, वहाँ उसकी पूजा करना सरल होता है। जैसे संसार के अन्दर अधिकतर औरतें किसी न किसी की माँ हैं। अधिकतर औरतों के कोई न कोई बच्चा होता है। परन्तु मुझे मातृशक्ति जैसी अपनी माँ में नजर आयेगी वैसे दूसरी स्त्रियों में नज़र नहीं आयेगी। हैं तो वे सभी मातायें, परन्तु मुझे अपनी माता की महिमा का पता है। दूसरी माताओं के विषय में हम कल्पना कर सकते हैं। इसलिए सबको निर्देश

दिया, 'मातृदेवो भव' अर्थात अपनी-अपनी माता को ईश्वर- मूर्ति समझकर सेवा करो। होने को तो प्रायः सब औरतें किसी न किसी की माता हैं। एक पंडितजी कीर्तन कराते हैं। जब कीर्तन कराने खड़े होते हैं, तो कहते हैं, ''भाइयों और बहनों!'' लड़कों को आदत होती है थोड़ी बदमाशी करने की। जब वे कहें, 'भाइयों और बहनों' तब लड़के सभा में पीछे से कहते हैं, 'एक को छोड़कर' क्योंकि पंडित जी की पत्नी सभा में बैठी होती है! यद्यपि पत्नी भी हमारे बच्चों की माँ है तथापि हमारी उसमें मातृदृष्टि कैसे बनें? इसी प्रकार जहाँ हमें महिमा नज़र आती है वहाँ हमारे लिए पूज्य दृष्टि बनाना सरल होता है।

विद्यालय में आठवीं-नवीं कक्षा तक, कई बार दसवीं तक भी, बच्चे सबसे ज्यादा किसकी बात मानते हैं? प्रधानाचार्य की नहीं मानते। उसकी तो दण्डे के ज़ोर से मानते हैं। जो खेल-कूद सिखाने वाला, शारीरिक व्यायाम का प्रशिक्षक होता है बच्चे उसकी बात सबसे ज्यादा मानते हैं क्योंकि खेलने में उनकी सबसे ज्यादा रुचि है। खेल खेलाने वाले के प्रति उनकी सद्भावना होती है। पढ़ने में तो रुचि होती नहीं, वह तो जबरदस्ती पढ़ना पड़ता है। अगर बच्चों को स्वतन्त्रता दे दो कि, 'तुम्हारी मर्जी हो तो पढ़ो, तुम्हारी मर्जी न होवे तो मत पढ़ो,' तो बच्चे सुबह से शाम तक क्रिकेट, टेनिस, बैडमिण्टन आदि ही खेलते रहेंगे। इतिहास-भूगोल की माथा-फोड़ी में नहीं पड़ेंगे। खेलने को ही महत्त्व देने से उसी के प्रशिक्षक की महिमा समझते हैं अतः उसके प्रति उनकी स्वाभाविक पूज्य-दृष्टि है। विद्यालय के नियमों के अनुसार खेल आदि का शिक्षक सबसे कमज़ोर माना जाता है। गणित, भौतिकी आदि के अध्यापक की बड़ी इज्ज़त होती है। वेतन भी ज़्यादा होता है। अन्य दृष्टि में जो कमज़ोर है, वही बच्चों की दृष्टि में प्रधान है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति पहलवानी करते हैं, वे अखाड़े में हनुमान जी की स्थापना करेंगे। उनके प्रति उन्हें परमात्मदृष्टि, पूज्यदृष्टि जल्दी होगी। बैठकर माला जपने वाले के प्रति उनकी पूज्यदृष्टि नहीं होगी, लगेगा, 'यह तो कमज़ोर है।' इसके विपरीत जो पढ़ने-लिखने का शौकीन है, उसको व्यास वाल्मीकि आदि के प्रति पूज्यदृष्टि बनेगी। इसलिए जब गीता में अर्जुन ने विभूतियों के

बारे में पूछा तो भगवान् ने विशिष्ट विभूतियों को ही गिनाया जिनमें तुम ऐश्वर्य को स्पष्ट देख सकते हो। परन्तु भगवान् ने सावधान भी कर दिया, 'एषः तु उद्देशतः प्रोक्तः' कि यह तो मैंने केवल रास्ता दिखाने के लिए कहा है, ऐसा मत समझ लेना कि बस इतनी ही मेरी विभूतियाँ हैं। 'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।' मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं। ये तो समझाने के लिए संकेत मात्र हैं।

तात्पर्य है कि जिसे जहाँ पूज्य दृष्टि होती है, उसकी प्रवृत्ति उसी ओर होगी। धीरे - धीरे समझना यह है कि एक उपाधि में जो विद्यमान है वही सब जगह पर विद्यमान है। हम लोगों के एकेश्वरवाद में और दूसरों के एकेश्वरवाद में आधारभूत फर्क यह है कि हम लोग बाध प्रक्रिया के द्वारा एकेश्वरवाद की बात करते हैं, अतः हम किसी की मूर्ति को किसी विग्रह को हटाने की बात नहीं करते। वे लोग बाध प्रक्रिया की बात नहीं समझते, वे सोचते हैं कि हम लोग जब इसको भौतिक रूप से हटायेंगे तब एक ईश्वर बचेगा।

जो एक ही परब्रह्म परमात्मा है, उसके तीन रूप हैं– एक है निर्गुण निराकार, उसे सबसे पहले बतलाया 'तव च महिमा वाङ्मनसयोः अतीतः।' आपकी यह जो निर्गुण निराकार की महिमा है यह न मन का विषय, न बुद्धि का विषय है। न मन उसको समझ सकता है न वाणी उसको कह सकती है। मन उसको शास्त्र के उपदेश द्वारा समझ सकता है, पर स्वयं अपनी सामर्थ्य के द्वारा नहीं समझ सकता। इसी प्रकार वाणी भी उसको लक्ष्यार्थ के द्वारा लखा सकती है, परन्तु साक्षात् नहीं लखा सकती। अतः मन और वाणी से वह अतीत है। मन और वाणी की पहुँच उस निर्गुण निराकार तक हो ही नहीं सकती। जब वह मन और वाणी से अतीत है, तब उसकी स्तुति कैसे कर सकते हो? स्तुति के लिए वाणी का प्रयोग और वाणी का प्रयोग करने से पहले उसको मनसे समझने की जरूरत। वह मन और वाणी दोनों से अतीत है तो उसकी स्तुति कैसे?

पुष्पदन्त कहते हैं कि वेद के आधार पर उसको समझ सकते हैं। प्रश्न होगा कि वेद भी तो शब्द से ही कुछ कहेगा? उत्तर देते हैं कि वेद भी उसको कहने के लिए 'अतद्व्यावृत्ति' का प्रयोग करता है। वेद परमात्मा को वैसे नहीं बताता

जैसे गाय-घोड़े के बारे में बताया जाता है! परमात्मा के संदर्भ में तो वेद संकेत करता है, उससे समझना पड़ता है। उपनिषदों में कथा आती है कि शाकायन्य महर्षि के पास एक राजा ने जाकर कहा, 'महाराज! मुझे परमतत्त्व का उपदेश दीजिए।' ऋषि चुपचाप बैठे रहे। उसने सोचा कि ज़रा ऊँचा सुनते होंगे, ज़ोर से बोला। वे फिर चुप रहे। राजा ने कहा, ''मेरे प्रश्न का आपने जवाब क्यों नहीं दिया?'' शाकायन्य ऋषि ने कहा, 'मैं जवाब तो दे रहा हूँ पर तू सुन नहीं रहा है!' जवाब क्या दे रहे थे? कि वह मन और वाणी से परे है।

श्रुति भी जब परमात्मा का उपदेश देती है तब यह नहीं कहती कि वह क्या है। जिन-जिन चीज़ों को तुम भ्रम से समझते हो कि, 'यह परमात्मा हो सकता है', उस-उसको श्रुति मना करती जाती है कि 'यह परमात्मा नहीं।' यही 'अतद्व्यावृत्तिः' है। जिन-जिन गुणों और आकारों को तुम कहते हो कि 'यह परमात्मा है', उन सब के लिये वेद कह देता है कि ये परमात्मा नहीं है। गुण और आकार के द्वारा ही तुम कहते हो कि, 'यह परमात्मा है' और श्रुति उन सब का निषेध कर देती है। उनका निषेध करने पर जो बच गया वही परमात्मा है। तुमने उसमें जो गुण और आकार समझे थे उनका निषेध हो गया पर वह खुद तो बच ही गया।

ऐसे समझो- आकाश सर्वव्यापक है। सब जगह मौजूद है। तुम्हें कहीं चार दिन के लिए जाना है। कम सामान ले जाने की दृष्टि से तुम पत्नी के बक्से में ही अपने भी चार कपड़े रखना चाहते हो। कहते हो, 'अरे! मेरे लिए भी थोड़ी जगह कर। मुझे भी दो कपड़े रखने हैं।' विचार करो, तुम क्या कहते हो? 'जगह कर दो।' जगह, आकाश, खाली जगह क्या बनायी जाती है? वह तो सर्वव्यापक है। कोई खाली जगह बना नहीं सकता है। पत्नी क्या करती है? बक्से में से साड़ियाँ निकाल देती है बस। सामान निकाल दिया तो खाली जगह अपने आप बच गयी क्योंकि खाली जगह सर्वव्यापक है ही। जब और कुछ नहीं होगा तब जो बचेगा, वही खाली जगह है।

इसी प्रकार जब तुम गुण और आकारों को निकाल देते हो तब जो बच जाता है, सच्चिदानन्द वही निर्गुण निराकार है। इसलिए कहा, 'एकं सत्' एक

सत्य ही परमात्मा है। निर्गुण-निराकार के उपदेश का तरीका वेद ने अपनाया कि उस सबका निषेध कर दिया जाये जो परमात्मा नहीं है। तुम्हें समझना पड़ेगा कि जो बच गया उसे परमात्मा कह रहे हैं। जैसे ऋषि मौन रह गये, बुद्धिमान् तो समझ लेगा कि मन और वाणी से परे है यह तात्पर्य है। यदि बुद्धिमान् नहीं हुआ तो वैसे ही समझेगा जैसे वह राजा समझ रहा था कि कुछ बोल ही नहीं रहे। बताने के ढंग को समझे तब न श्रोता को ज्ञान हो। परमात्मा जो-जो नहीं है उस सबका निषेध कर दिया तो जो सच्चिदानन्द बच गया वह परमात्मा है यह समझना है। वेद भी उसे इसी प्रकार समझा पाता है।

'चकितमभिधत्ते' वेद भी यह अभिधान, कथन करते हुए चकित होता है! यह कैसा तत्त्व है जिसके बारे में न कुछ भी सोच सकते हो, न समझ सकते हो! और है यह कण-कण क्षण-क्षण में विद्यमान। अपने अन्दर देख लो। सारे शरीर के कण-कण में क्षण-क्षण में 'मैं' विद्यमान हूँ। यदि उसके बारे में कोई पूछे कि क्या यह देखने वाला है? तो यह नहीं कह सकते कि देखने वाला है। यदि देखने वाला आत्मा हो तो अन्धों के आत्मा न हो! यदि सुनने वाला आत्मा होवे तो बहरों के आत्मा न हो। आत्मा है तो ये सब साधन काम कर रहे हैं परन्तु इन उपाधियों से आत्मा सीमित नहीं होता। ये सब हट भी जायें तो भी जो यथावत् रह जाता है वह आत्मा है। इसी प्रकार सृष्टि प्रपंच में जब सब गुण-आकार हट जाते हैं तब भी रहने वाला परमात्मा है। यह उस परमात्मा की महिमा है कि सारे गुण और आकार हटने पर भी वह अकेला विहार करता है।

पिप्पलाद महर्षि जब पैदा हुए उसके कुछ समय बाद ही उनके पिताजी ने देवताओं के कार्यार्थ अपने शरीर का त्याग कर दिया। पिप्पलाद अपने मामा के घर बड़े हुए। घर में चाचा-ताऊ थे नहीं तो उनकी माँ अपने मायके चली गई। पिप्पलाद अपने नाना को अपना पिता कहता था। बारह साल का हुआ तो उसके मामा उसे कहें, 'ये तुम्हारे पिता नहीं हैं, तू पिता-पिता क्यों करता है?' उसने जाकर अपनी माँ से पूछा कि, 'ये लोग कहते हैं कि ये मेरे पिता नहीं हैं। मेरे पिता कहाँ है?' उसने कहा, 'बेटा! तुम्हारे पिता ने देवताओं के कार्य के लिए, देवताओं की प्रार्थना पर अपना शरीर छोड़ दिया। ये तुम्हारे नाना हैं।' पिप्पलाद

को बड़ा क्रोध आया, 'देवताओं ने अपने काम के लिए मेरे पिता को खत्म कर दिया! मैं इन देवताओं को खत्म करूँगा।' माता से उपाय पूछा तो उन्होंने उसे भगवान् शंकर की आराधना बतला दी। नाना से विस्तार से उसने तरीका समझ लिया।

उसने भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिए तपस्या की। दीर्घकाल तक तपस्या करने पर भगवान् प्रकट हुए। उन्होंने कहा, 'तू वर माँग ले।' उसने कहा, 'सारे देवताओं को मैं खत्म कर दूँ ऐसी शक्ति मुझे दे देवें।' भगवान् शंकर हँसकर कहने लगे, ''अरे! वह शक्ति लेकर तू क्या करेगा! तेरे काम की नहीं है।'' पिप्पलाद ने कहा, ''महाराज! मुझे पता है, वह शक्ति आपके पास है, आप दे सकते हैं। इसके सिवाय मुझे कुछ नहीं चाहिए।'' भगवान् शंकर ने कहा-''अच्छा, जरा बैठ जा, आँखें बन्द करके।'' वह बैठ गया। उसकी आँखें बड़ी जोर से जलने लगीं। कान फटने लगे। चिल्लाकर आँखें खोलकर कहा, ''महाराज! मैं तो देवताओं को मारने की शक्ति माँग रहा था। आप तो मेरी ही आँखें जलाने लगे, कान फोड़ने लगे!'' भगवान् शंकर हँसकर कहने लगे-''अरे देख, समझ। जब समष्टि सूर्य देवता को खत्म करेगा तो सारे नेत्रों के अन्दर विद्यमान वह देवता जलेगा कि नहीं जलेगा? जब समष्टि का नुकसान होगा तो तेरी आँख कैसे बचेगी? सारी आँखों का एक देवता है, वह नष्ट होगा तो तेरी आँख अकेली कैसे बचेगी?'' उसने कहा, ''महाराज फिर आप कैसे खत्म करते हो, संहार के समय?'' उन्होंने कहा, ''मैं अपनी उपाधियों का पहले ही संहार किये बैठा हूँ।'' पिप्पलाद समझ गया।

जो अपने व्यष्टि भाव को सर्वथा छोड़ चुका है वह अपने सारे गुण-आकार हटा चुका है। परन्तु जो अपने व्यष्टि भावों को पकड़े हुए है, अपने 'अहं' को 'मैं' को पकड़े हुए है, वह इस निर्गुण-निराकार को कैसे समझ सकता है! इसीलिए कहा कि श्रुति यह जो बात कहती है वह चकित होकर कहती है कि सारे गुणों और आकारों को समाप्त करके भगवान् शंकर कैसे बच जाते हैं! क्योंकि यह स्वरूप हम लोगों की समझ से बहुत दूर है इसलिए कहा-'सः कस्य स्तोतव्यः?' उस निर्गुण-निराकार की महिमा की स्तुति तो कौन कर सकता है।

दूसरा रूप है सगुण निराकार। सृष्टि, स्थिति, लय, अनुग्रह, तिरोधान इत्यादि सब कृत्यों को करने वाला, मायाविशिष्ट चेतन, सारे संसार का एकमात्र कारण। उसका *आकार* कुछ नहीं है। परन्तु सत्त्वादि सारे गुण उसमें हैं। वह सत्त्व, रज, तम गुणों के द्वारा सब कृत्य कर रहा है। 'कतिविधगुण:' उसके गुण कितने प्रकार के हैं? अनन्त हैं। अत: उसकी महिमा समझना भी कठिन है।

परमेश्वर की लीला समझ में नहीं आती। वही अकाल भी डालता है, वही वृष्टि भी करता है। वही बड़ा तेज तूफान लाकर लोगों को खत्म भी करता है। क्या समझ में आता है? विचार करो तो क्या उसने खत्म किया? समझने की बात है! बाढ़-तूफान आने पर पचीस-पचास हजार आदमी मर जायेंगे। परन्तु बाढ़ के पानी में कितने मच्छर पैदा हो जायेंगे? अरबों पैदा हो जायेंगे। कितने जलचर पैदा होंगे? हम तो केवल मनुष्य को केन्द्र-मानकर कहते हैं कि बड़ा नुकसान हो गया। मच्छर कह रहे होंगे, 'भगवान् की बड़ी कृपा हुई। हमारी सन्तति खूब बढ़ी।' परमेश्वर तो सबके एक हैं। लेकिन यदि कोई कहने लग जाए कि, 'बहुत अच्छा हुआ तूफ़ान आ गया', तो लोग कहेंगे कि इसका दिमाग खराब है।

परन्तु परमात्मा के अनन्त गुण हैं, अत: उसकी महिमा को समझना, उसकी स्तुति करना भी कठिन है। उतना कठिन तो नहीं, निर्गुण-निराकार की स्तुति की तरह, उसकी अपेक्षा सरल है, पर फिर भी समझना कठिन है, क्योंकि गुणों की कोई सीमा नहीं। हम लोग उसके दस-बीस गुणों को देख सकते हैं पर ज़्यादातर तो हमें अज्ञात ही रहेंगे। हम लोगों को जो चीज़ अच्छी-बुरी लगती है, वह मनुष्य को केन्द्र मानकर हैं। वह भी कठिन है, मनुष्यमात्र को केन्द्र मानकर भी हम पूरी-पूरी परिस्थिति नहीं समझ पाते। कारगिल युद्ध में भारत पर चढ़कर आने वाले भी तो मनुष्य ही थे! उन चढ़कर आने वालों को भी चढ़ाकर लानेवाला कौन है? उनकी महिमा को गाने जाओ तो लोग कहेंगे, 'देशद्रोही है।' इस प्रकार मनुष्यों के स्तर पर भी हमारी दृष्टि नहीं बन पाती है। डकैत चोर सब उसी की महिमा है, संसार के आकीटपतंग सब उसी की महिमा चल रही है। अत: इन दोनों रूपों की स्तुति करना कठिन है।

'अर्वाचीने पदे'– माया के द्वारा जो रूप वे हमारे सामने मायिक रूप से प्रकट करते हैं जैसे पञ्चमुखी, चतुर्भुजी, चतुर्मुखी, वज्रहस्त आदि। ये सब रूप केवल मायाविशिष्ट नहीं, किसी काल में माया की किसी एक उपाधि में प्रकट होने वाले रूप हैं। ये इतने सुन्दर और आकर्षण करने वाले हैं कि किसका मन उनकी तरफ जा कर उनकी स्तुति नहीं करता! अर्थात् जो व्यक्ति सर्वथा पत्थर के हृदय वाले नहीं हैं, वे अपने सामने प्रकट होने वाले इन अर्वाचीन रूपों को देखकर उनकी महिमा, उनकी स्तुति तो अवश्यमेव गा सकते हैं।

पत्थर से दिल वाले व्यक्ति को लगता है कि परमेश्वर ऐसा रूपादि वाला थोड़े ही होगा! प्रायः यही कठिनाई होती है। जब वह अर्वाचीन रूप धारण करता है तब हम बुद्धि लगाकर कहते हैं, 'ये अपरिच्छिन्न कैसे हैं?' और जब अपरिच्छिन्न रूप समझाया जाता है तब कहते हैं, 'समझ में नहीं आता।' अधिकतर व्यक्तियों की कठिनाई यह है कि जो समझ में आता है उसमें दोष देखते हैं और जो समझ में नहीं आता उससे घबराते हैं। ऐसे लोगों का हृदय पत्थर का बना रहता है। परन्तु उन्हें छोड़कर बाकी लोगों के मन–वाणी उन रूपों में संमोहित होते हैं, वे उन रूपों की महिमा गाया करते हैं। इस अर्वाचीन रूप की ही विस्तार से स्तुति की जा सकती है। वैदिक ऋषि अतद्व्यावृत्ति से उनके निर्गुण निराकार रूप को बता सके। व्यासादि ऋषियों ने उनके सगुण रूप का विस्तार से वर्णन किया। हम इन दोनों को नहीं समझ पाते हैं तो कम–से–कम माया के कार्य से उन्होंने जो हम पर कृपा कर विशिष्ट रूपों को धारण किया है उनकी महिमा का गान हम कर ही सकते हैं।

श्लोक – ३

पहले श्लोक में बतलाया कि परमेश्वर की स्तुति अपनी सामर्थ्य के अनुसार करने में कोई दोष नहीं। दूसरे में बतलाया कि परमेश्वर के तीन रूपों में जो माया के द्वारा निर्मित रूप हैं उनका वाणी के द्वारा कथन, मन के द्वारा चिन्तन सरलता से हो सकता है। प्रश्न उठता है कि यदि अर्वाचीन रूपों का वर्णन सब के मन और वाणी का विषय है भी तो तुमसे बड़े–बड़े लोगों ने उनकी स्तुति कर ही ली है, तुम (पुष्पदंत) क्यों स्तुति करने जा रहे हो?

उसका जवाब देते हैं-

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन्! किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता।।३।।

(पदच्छेदः)

मधुस्फीताः वाचः परमम् अमृतम् निर्मितवतः
तव ब्रह्मन्! किं वाक् अपि सुरगुरोः विस्मयपदम्
मम तु एतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामि इति अर्थे अस्मिन् पुरमथन! बुद्धिः व्यवसिता।।

(सान्वयार्थः)

ब्रह्मन्! = हे व्यापक स्वरूप, **मधुस्फीता** = अत्यन्त मीठे शब्दों में सनी हुई, **परमम्** = सर्वोत्तम (और), **अमृतम्** = मोक्ष द्वारा अमरता देनेवाली, **वाचः** = वेदवाणी की, **निर्मितवतः** = रचना करने वाले, **तव** = आपको, **किं** = क्या, **सुरगुरोः** = ब्रह्मा जी की, **वाक्** = वाणी (स्तुति), **अपि** = भी, **विस्मयपदम्** = आश्चर्य करा सकती है? (अर्थात् नहीं करा सकती), **तु** = तथापि, **पुरमथन!** = हे त्रिपुरासुर को मारने वाले! **भवतः** = आपके, **गुणकथनपुण्येन** = गुणों का वर्णन करने के पुण्य से, **एतां** = इस (अपनी), **वाणीं** = वाणी को, **पुनामि** = पवित्र करता हूँ, **इति** = इसलिये, **अस्मिन्** = इस स्तुतिरूप, **अर्थे** = कार्य में, **मम** = मेरी, **बुद्धिः** = बुद्धि, **व्यवसिता** = लगी है।

आचार्य पुष्पदन्त कहते हैं कि बड़े-बड़े विद्वानों ने भी जो स्तुतियाँ की होंगी उनकी अपेक्षा स्वयं अपने स्वरूप का जो वर्णन आपने वेदों में किया है वह अतिश्रेष्ठ है, उनके सामने वे सारी स्तुतियाँ भी फीकी हैं। वेद को प्रकट करने वाले साक्षात् परमेश्वर हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' भगवान् पहले ब्रह्माजी को बनाते हैं, बनाकर वैसे ही नहीं छोड़ देते हैं, उनके अन्दर वेदों को स्थापित करते हैं।

अतः वेदों का प्राकट्य करने वाले साक्षात् परमेश्वर ही है। वेद का प्रतिपाद्य क्या है? स्वयं परमेश्वर ही वेद के प्रतिपाद्य हैं। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' सारे वेदों के द्वारा एकमात्र उस परमात्मतत्त्व का ही प्रतिपादन है।

ब्रह्माजी ने वेदों की प्राप्ति करने के बाद एक बार सोचा वेद के प्रत्येक मन्त्र के देवतादि का वर्णन किया गया है इसलिए उस मन्त्र का प्रयोग करने से पहले उस मन्त्र के देवता, छन्द, ऋषि, विनियोग को जानकर ही उस मन्त्र का प्रयोग होता है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र का देवता है, ऋषि भी है। परन्तु क्या सारे वेदों का भी कोई एक देवता है? यह शंका होने पर उन्होंने सारे वेदों के द्वारा एक हवन किया। जहाँ वह हवन किया वह स्थान चिदम्बर है। जब सारे वेदों से हवन किया तब हवन की समाप्ति पर हवनकुण्ड से परमेश्वर की स्वर्णनिर्मित नटराज-मूर्ति निकली जो वहाँ स्थापित है। इससे ब्रह्माजी ने निर्णीत समझ लिया कि सारे वेदों के द्वारा परमेश्वर का प्रतिपादन है।

जिस प्रकार हमारे शरीर के अन्दर अनेक अंग हैं- हाथ, अंगुलियाँ, अंगुलियों में पोर, पोरों के आगे नाखून, रक्त की धमनियाँ, मांस की पेशियाँ आदि विभिन्न अंग-प्रत्यंग हैं। कई छोटे अवयव मिलकर अंग बनते हैं और अंगों के मिलने से अंगी शरीर तैयार होता है। इसी प्रकार वैदिक मन्त्रों के द्वारा प्रतिपाद्य देवता हैं। वेद में एक जगह प्रश्न उठाया कि कितने देवता हैं? बतलाया है कि वेदों में 'त्रयस्त्रिंशत्' तैंतीस देवता हैं। शंका हुई कि सुना जाता है बहुत देवता हैं तैंतीस हजार, तैंतीस लाख, तैंतीस करोड़, तब तैंतीस ही कैसे? उत्तर दिया है कि एक-एक देवता की अनेक विभूतियाँ फैलती जाती हैं जिससे सारी संख्या संगत है। आगे प्रश्न हुआ कि क्या तैंतीस ही देवता हैं? वेद नें कहा, 'नहीं, सच्ची बात तो यह है कि सब तीन देवताओं के अन्तर्भूत हो जाते हैं। तैंतीस करोड़ देवता तैंतीस देवताओं के अन्तर्भूत और फिर तैंतीस देवता, तीन के अन्तर्भूत हो जाते हैं।' पूछा, 'तीन तो पक्के हैं?' कहा, 'नहीं, दो में ही तीन का अन्तर्भाव हो जाता है।' पूछा, 'दो तो पक्के हैं?' जवाब दिया, 'नहीं डेढ़ हैं!' फिर पूछा, 'डेढ़ तो पक्के हैं?' बताया, 'नहीं, सच्ची बात तो यह है कि एक ही है। उसी की सारी विभूतियाँ हैं।'

जैसे इस शरीर के अन्दर हम अकेले हैं। हाथ, पैर, सिर आदि हमारे अंग हैं, उनके फिर प्रत्यंग हैं, प्रत्यंगों के भी प्रतिप्रत्यंग हैं। परन्तु है तो हमारी ही विभूति। हमारे होने से ये सारे अंग-प्रत्यंग रहेंगे। हम नहीं रहेंगे तो यह कुछ नहीं रहेगा। हम हैं तो सब काम हो रहा है। हमारे जाने के बाद मिट्टी का लोंदा पड़ा रहेगा। फिर उसमें और मिट्टी में कोई फर्क नहीं रहेगा। इसी प्रकार वेद के अन्दर अनेक देवताओं के अनेक मन्त्र हैं। परन्तु सभी उस परमेश्वर के अंग-प्रत्यंग हैं, है तो वह एक परमेश्वर ही। सारे वेदों का प्रतिपाद्य परमात्मा है।

उस परमात्मा के बारे में सही-सही कौन बतावे? परमात्मा ने स्वयं ही अपने बारे में बताया है क्योंकि उसकी महिमा को ठीक-ठीक उसके सिवाय दूसरा कोई बतला नहीं सकता। अतः वेद की प्राकट्य रूप रचना स्वयं परमेश्वर ने की है। प्राकट्य इसलिए कहते हैं कि जैसे परमेश्वर अनादि, उसकी विभूतियाँ अनादि, वैसे ही उस विभूति को प्रकट करने वाला वेद भी अनादि। ऐसा नहीं कि पहले वेद नहीं था, फिर परमेश्वर ने वेद को बनाया। प्रत्येक कल्प के अन्दर जैसे बाकी सब चीज़ें परमेश्वर के अन्दर निहित हो जाती हैं, वैसे ही वेद भी उन्हीं के अन्दर निहित हो जाता है। सब कुछ माया के अन्दर एक हो जाता है।

ऐसे समझ लो, जब तुम गहरी नींद में सो जाते हो तब तुम्हारी देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति, सूंघने की शक्ति, चलने की शक्ति, पकड़ने की शक्ति, सोचने की शक्ति, निश्चय करने की शक्ति, ये सब कहाँ चली जाती हैं? गहरी नींद में सब एक होकर रहती हैं। उस समय आँख देखती नहीं, कान सुनता नहीं है पर सारी शक्तियाँ तुम्हारे में ही लीन हो जाती हैं। जैसे ही जाग्रत् में आते हो, वैसे ही सारी शक्तियाँ अपनी-अपनी जगह काम करने लगती हैं। क्या कभी ऐसा घपला होता है कि आँख कान में चली जाए, कान नाक में चला जाए? कभी ऐसा घपला नहीं होता है। जो जहाँ की शक्ति है, वह वहीं पुनः प्रकट हो जाती है इसी प्रकार महाप्रलय के अन्दर, सारे प्राणी, सारे महाभूत, सारे वैदिक मन्त्र, सब परमात्मा से एक हुए रहते हैं। उसके बाद जब वह सृष्टि करने की कामना करता है तब जो जीव प्रलय के पहले जहाँ था, वहीं फिर प्रकट हो जाता है। कोई इन्द्र होकर प्रकट हो जाता है, कोई वरुण होकर, कोई मनुष्य

होकर, कोई राक्षस होकर, कोई गन्धर्व तथा कोई पिशाच होकर प्रकट हो जाता है। महाप्रलय होते समय जो जहाँ था, वहीं पुनः प्रकट हो जाता है। जैसे ये सब प्रकट होते हैं, वैसे वेद भी प्रकट हो जाते हैं।

इसलिए यह नहीं कि परमेश्वर वेद का निर्माण करते हैं। जो वेद उनमें लीन था उसे उन्होंने प्रकट कर दिया। चूँकि परमात्मा स्वयं ही अपना स्वरूप बतला रहे हैं अतः उसमें कहीं सन्देह नहीं हो सकता है। वेद मधुर वाणी है शहद से भरी हुई। बंगाली लोग सन्देश बनाते हैं, उसके बीच में शहद भर देते हैं। जब उसे खाओ तो शहद का स्वाद आता है। ठीक इसी प्रकार वेदवाणी शहद से भरी हुई है, अत्यन्त मधुर है। अतः जो लोग वेद को प्रमाण नहीं मानते ऐसे नास्तिक, म्लेच्छ लोग वेद की बात सच्ची नहीं मानते परन्तु वेद के अन्दर जो उपमाएँ और साहित्य का सौन्दर्य है, उसी से मुग्ध होते हैं कि रचना बड़ी सुन्दर है।

यह जरूरी नहीं कि ग्रंथ को सत्य मानों तभी वह सुन्दर लगे। एक बेल्जियम का ईसाई पादरी था। भारतवर्ष में अनेक वर्षों तक रहा। हिन्दी का अध्ययन किया, रामायणों को पढ़ा और तुलसीकृत रामचरितमानस का बहुत प्रामाणिक जानकार माना जाता था। एक बार वह कहीं भाषण करने गया हुआ था। उसने मानस के आधार पर रामचन्द्रजी का बड़ा सुन्दर वर्णन किया। लोग मन्त्रमुग्ध हो गये। प्रवचन को सुनकर एक हिन्दी का लेखक बड़ा प्रभावित हुआ। उसने सोचा, 'देखो! इसकी राम में कितनी भक्ति है।' जहाँ वह पादरी ठहरा था वहाँ वह लेखक पहुँच गया। पादरी लेटा हुआ था। लेखक ने कहा, 'मैं आपकी रामभक्ति से बड़ा प्रभावित हुआ, आपको रामजी में भक्ति कैसे हो गयी?' पादरी झट से उठकर बैठ गया। बोला, 'तुम क्या सोचते हो कि मैं हिन्दू अन्धविश्वासी हूँ? मेरी दृष्टि में राम-वाम कुछ नहीं है। परन्तु तुलसीदास की कल्पना बड़ी सुन्दर है साहित्य बड़ा सुन्दर है।' साहित्य की प्रशंसा और उसको प्रामाणिक मानने में बहुत अंतर है। म्लेच्छ यवन, अपने यहाँ के भी नास्तिक सब वेद रूप इस मनोरम रचना से अत्यन्त प्रभावित होते हैं। जो भी वेद पढ़ेगा, उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा।

परन्तु यदि उसमें प्रमाणबुद्धि से उसका अर्थ ठीक से समझ लिया तो 'परमम्

अमृतम्' परम अमृत की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है। किसी भी अच्छी रचना में प्रियता और हितकारिता होती हैं। प्रायः जो हितकारी बात होती है, वह प्रिय नहीं लगती और जो बात प्रिय लगती है वह हितकारी नहीं होती है! प्रायः ऐसा देखा है। परन्तु वेद की विशेषता है कि यह प्रिय भी है और हितकारी भी है। सुनने मात्र से यह प्रिय लगता है और यदि इसका रहस्य अन्तःकरण में प्रकट हो जाये तो यह हितकारी है, मोक्ष भी देता है। दोनों ही विशेषताएँ परमेश्वर के वाङ्मय में पूर्णरूप से हैं।

इसलिये पुष्पदन्त परमेश्वर से कहते हैं कि, 'सुरगुरोः अपि' यदि बृहस्पति भी कोई रचना करेंगे तो 'तव किं विस्मयपदम्' आपको उससे क्या विस्मय होगा? क्योंकि इससे कहीं सुन्दर रचना आपने कर रखी है जो प्रिय भी है हितकारी भी। न उससे अधिक कोई प्रिय बात कह सकता है, न कोई हितकारी बात कह सकता है। बहृस्पति भी यदि आपसे कोई बात कहें तो आपको विस्मय नहीं होगा कि, 'कितनी अच्छी बात कही है।' अतः अच्छी रचना करने से आप प्रसन्न होंगे यह सम्भव ही नहीं है। अतः चाहे ब्रह्मा स्तुति करें, विष्णु करें, इन्द्र करें, बृहस्पति करें, उनकी बातों की ख़ासियत से आप प्रसन्न हो जायेंगे ऐसा नहीं। तब भक्त कोई रचना क्यों करता है? 'गुणकथनपुण्येन' आपके गुणों का कथन करने से पुण्य होता है। इसीलिए मैं भी आपके गुणकथन का पुण्य पाकर 'पुनामि' अपने आपको पवित्र करता हूँ।

परमेश्वर के गुणों का वर्णन छोड़कर जब अन्य चीजों का वाणी वर्णन करती है तब दोषी बनती है। इसलिए किसी ने कहा है, 'हे वाणी! अब तक मैं वाणी से संसार की चीज़ों का वर्णन करता रहा जिससे मैंने तुझे वेश्या बना रखा है।' वेश्या वह जो आज एक के पास, कल दूसरे के पास, जिसका एक पति नहीं है। इसी प्रकार कभी कहते हैं, 'सेव बड़ा अच्छा', कभी कहते हैं, 'नारंगी अच्छी है', कभी कहते हैं, 'अमुक शहर बड़ा अच्छा है।' यों अनेकों के लिए हम अपनी वाणी का प्रयोग करते हैं। भक्त कहता है कि 'मैंने निश्चय किया है कि अब पाप से बचने के लिए अपनी वाणी से परमेश्वर के सिवाय किसी और का वर्णन नहीं करूँगा।'

पहले हम लोग अपनी संस्कृति के अन्दर यह भाव स्वाभाविक रूप से पाते थे। किसी से कहते थे– 'तुम्हारा बेटा बड़ा अच्छा है।' उसका तुरन्त जवाब होता था, 'भगवान् की दया है।' आज कहते हैं, 'हमने इसे सेंट स्टीफेन्स कॉलेज में पढ़ाया है जी।' हर व्यवहार में हम लोगों की दृष्टि परमेश्वर की ओर रहती थी। स्वाभाविक बोलने में भी हम अपनी वाणी का प्रयोग परमेश्वर की महिमा गाने में करते थे कि, 'यह सब परमेश्वर की महिमा है।' कोई अगर हमारी बड़ाई भी करता कि, 'आप बड़े विद्वान् हैं', या 'आपने यह बहुत बढ़िया मकान बना लिया', तो जवाब मिलता था कि, 'भगवान् की कृपा से ऐसा है।' अब संस्कृति बदल गयी है। अब कहते हैं, 'वह मिनिस्टर बड़ा चोर है', दूसरों की निंदा में वाणी खर्च करते हैं। कहते हैं, 'मैंने तुम्हारे लिए यह किया, वह किया', अपनी बड़ाई खुद करते फिरते हैं। यों वाणी का प्रयोग हम लोग इस प्रकार जब सांसारिक चीज़ों के लिए करते हैं तो हम वाणी को वेश्या बनाते हैं। उसका प्रायश्चित्त यही है कि परमेश्वर के गुणों का वर्णन करें हमारी वाणी का एक परमेश्वर ही पति रहे, उसके सिवाय कोई नहीं। इसीलिये पुष्पदन्त ने कहा कि अपनी वाणी को आपके गुणकथन के पुण्य से पवित्र करता हूँ।

वाणी को पवित्र करने से क्या होगा? कहते हैं, 'पुरमथन'। आप पुरों को नष्ट करने वाले हैं। जो स्थूल, सूक्ष्म, शरीर हैं उन्हें 'पुर' कहते हैं, उन पुरों को आप नष्ट करते हैं। शरीर को 'पुर' शब्द से वेद और साहित्य में कहा है। उन पुरों की कैद से छुड़ाकर भगवान् मोक्ष प्रदान कर देते हैं जब साधक वाणी पवित्र कर योग्य अधिकारी बन जाता है।

अतः पुष्पदंत ने कहा कि अब इसी प्रयोजन के लिये मैंने अपनी बुद्धि व्यवस्थित कर ली है। व्यापार करने वाले की खास विशेषता क्या है? अंग्रेज़ी में जो व्यस्त रहे वह Businessman क्योंकि Business अर्थात् व्यस्तता। हमारे यहाँ व्यापारी को व्यवसायी कहते हैं। व्यवसाय का मतलब– जो बात कह दी उस पर स्थिर रहे। चाहे करोड़ों का घाटा हो जाये, दिवालिया होकर सड़क पर निकल जाये पर व्यवसायी अपनी बात बदलेगा नहीं। करोड़ों रुपयों का लेन–देन हो जाता है, कोई लिखा–पढ़ी नहीं होती। अब धीरे–धीरे व्यवसायी कम होते जा

रहे हैं, Businessmen बढ़ते जा रहे हैं। विज्ञापन में ऊपर लिखेंगे, 'इसमें ये-ये फायदे हैं', नीचे छोटे अक्षरों में लिखेंगे, 'इसमें घाटा होने की सम्भावना है'। व्यवसायात्मिका बुद्धि तो कभी बदलती नहीं और जो व्यवसाय वाले नहीं अनिश्चय वाले हैं उनकी 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च' बुद्धियों की बहुत-सी शाखाएँ होती हैं, अनन्त बुद्धियाँ होती हैं। आजकल इसी को 'चतुराई' कहते हैं। बात ऐसी कहो कि मुकरने के चार रास्ते रहें। अच्छा वकील या चार्टेड अकाउण्टेन्ट है का मतलब क्या? महान् अव्यंवसायी है। परमात्ममार्ग में चलने वाले लोग जानते हैं कि ये लोग महान् अव्यवसायी हैं। पुष्पदंत कहते हैं- मैंने तो एक व्यवसाय कर लिया है कि आपके गुणों का ही कथन करना है, इसी से अपनी वाणी को पवित्र करना है।

श्लोक-४

भगवान् की महिमा का, ऐश्वर्य का वर्णन करते है-

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तुव्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन् वरद! रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः।।४।।

(पदच्छेदः)

तव ऐश्वर्यम् यत् तत् जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तम् तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानाम् अस्मिन् वरद! रमणीयाम् अरमणीम्
विहन्तुम् व्याक्रोशीं विदधते इह एके जडधियः।।

(सान्वयार्थः)

वरद ! = हे समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले! **जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्** = आकाशादि सभी जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाला, **त्रयीवस्तु** = वेदों द्वारा प्रतिपादित, **गुणभिन्नासु** = सत्त्व, रज और तमोगुण के भेद से, **तिसृषु** = तीन (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र), **तनुषु** = मूर्तियों में, **व्यस्तम्** = बँटा हुआ (प्रकट किया हुआ), **यत्** = जो, **तव** = आपका,

ऐश्वर्यम् = ऐश्वर्य (है), **तत्** = उसका, **विहन्तुम्** = खण्डन करने के लिये, **इह** = इस संसार में, **जर्डधियः** = मूढ बुद्धिवाले (जड़ पदार्थों पर ही सोचने वाले), **एके** = कुछ लोग, **अरमणीम्** = नुकसान पहुँचाने वाले, **अस्मिन्** = (परन्तु) इस ब्रह्माण्ड भर में, **अभव्यानाम्**[१] = जिनका कल्याण नहीं है, **रमणीयाम्** = उनको प्रिय लगने वाले, **व्याक्रोशीं** = आक्षेपपूर्ण मिथ्या दोष, **विदधते** = लगाते हैं।

(१–भगवान् पर दोष लगाने वालों का कहीं भी उद्धार नहीं हो सकता।)

आपकी ईश्वरता, आपका ऐश्वर्य क्या है? जगत् का उदय करना, प्रकट करना, फिर जगत् को बनाकर रखना, रक्षा करना और अंत में प्रलय करना–परमेश्वर का यही ऐश्वर्य है, निश्चित शील है। इसलिए जब महर्षि भृगु ने अपने पिता वरुण से जाकर पूछा कि,'मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए', तो उन्होंने यही कहा, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।' जिससे यह सृष्टि पैदा होती है, जो इस सृष्टि को सुरक्षित रखता है, अर्थात् जिसके कारण ही यह सारी सृष्टि जीवित है वही ब्रह्म है। सारी सृष्टि जीवित है अर्थात् जैसे हमारे शरीर का हर अंग जीवित ही है, कोई अंग मरा हुआ नहीं है, हाथ–पैर सब में जीवन है, इसी प्रकार परमेश्वर की सारी सृष्टि में सभी के अन्दर जीवन है अर्थात् सब कार्यकारी हैं और अन्त में जब सब थक जाते हैं तो परमेश्वर में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। वही सबको अपने अन्दर प्रविष्ट कर लेता है। ये तीन कार्य और कोई नहीं करता, परमेश्वर ही करता है।

कारण इसका बड़ा सीधा है : महाप्रलय में तो परमेश्वर अकेले ही हैं। वे ही देवता आदि को बनायेंगे, इस[illegible] सृष्टि परमेश्वर के सिवाय और कोई कर नहीं सकता। सबको अपने में लीन करके अकेले वे ही रह सकते हैं, कोई दूसरा हो नहीं सकता। सृष्टि काल में सब के अन्दर व्यापक होकर उनको जीवित रखते हैं अतः उनके सिवाय कोई और सर्वव्यापक हो नहीं सकता। जैसे शरीर के प्रत्येक अंग में मैं ही व्यापक हो सकता हूँ, एक अंग दूसरे अंग में व्यापक नहीं हो सकता। वैसे ही सारे संसार में परमेश्वर ही व्याप्त है। प्रपंच के सृष्टि, स्थिति, लय परमेश्वर का चिह्न है। जहाँ सृष्टि, स्थिति, लय हैं, वह परमेश्वर ही है। ये उसी का ऐश्वर्य हैं। परमेश्वर यद्यपि अन्य भी कार्य करते हैं, परन्तु दूसरों के

माध्यम से। ये तीनों कार्य करने में परमेश्वर ही समर्थ है।

ये तीनों कार्य कैसे करते हैं? 'तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।' गुणों के द्वारा करते हैं। सृष्टि करना रजोगुण को लेकर, रक्षा करना सत्त्वगुण को लेकर और प्रलय करना तमोगुण को लेकर होता है। तीनों गुणों को ग्रहण किये हुए रूप अर्वाचीन पद हैं। इसलिए 'तनुषु' कहा। चतुर्मुखी मूर्ति रजोगुण की ब्रह्माजी की है, चतुर्भुजी मूर्ति सत्त्वगुण की विष्णुजी की है, और तमोगुणी मूर्ति रुद्र की है। यद्यपि वह परमेश्वर तीनों गुणों से अतीत है तथापि सृष्टि आदि व्यवहार के लिये गुणों को उपाधि रूप से ग्रहण कर लेता है। तीनों गुणों की मूर्तियाँ भव, हर, मृड नाम से स्वयं स्तुतिकार बतायेंगे और उन तीनों से परे एक त्रिगुणातीत मूर्ति भी बतायेंगे। 'बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः' आदि श्लोक में यह विषय है। ये अर्वाचीन पद सगुण साकार हैं सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के भेद से तीन रूप हैं।

अर्वाचीन पदों की लीलाओं में लोगों को विरोध लगता है। भक्तों को इन रूपों का दर्शन हो जाता है जिससे आचार्य शंकर एक जगह लिखते हैं : 'हे परमात्मन्! जिस का अंत ब्रह्मा ऊपर जाकर और विष्णु नीचे जाकर न पा सके वह समूचा रूप आप हमारे सामने प्रकट कर रहे हैं, यह क्या आप ठीक कर रहे हैं?' मनुष्य को भगवल्लीला का तर्क समझ में नहीं आता। जो अनादि अनन्त है वह हमारे सामने कैसे प्रकट हो सकता है! अत्यन्त विरोध लगता है।

किन्तु यह विरोध किसे लगता है? 'अभव्यानाम्' जो भव्य नहीं है, आगे जिनका भविष्य अच्छा होने वाला नहीं है। अभव्य का अर्थ यह नहीं कि भविष्य ही नहीं है, भविष्य में रहेंगे परन्तु भविष्य अच्छा नहीं है। भक्त तो इन लीलाओं से समझते हैं कि भगवान् ने हम पर असीम कृपा की पर लीलावर्णन सुनकर सन्देह जिन लोगों में आता है, समझ लेना चाहिए कि आगे उनका समय अच्छा नहीं है अर्थात् ये मोक्ष के अधिकारी नहीं होंगे।

ऐसे लोग क्या करते हैं? 'अरमणीं' असुन्दर कल्पनाएँ व्यक्त करते रहते हैं क्योंकि 'जडधियः।' परमेश्वर की अनन्त शक्ति को नहीं समझ पाना यही

जडबुद्धि होना है। थोड़ा भी यदि विचार करें तो समझ आ जाता है कि हमारी दृष्टि कितनी सीमित है, इससे संसार की संगति नहीं लग सकती। अपने शरीर में ही देखें तो कितनी असम्भव लगने वाली बातें घट रही हैं! आँख में क्या है जो देख रहा है? कान में क्या है जो सुन रहा है? अपनी बुद्धि से यह सब समझा नहीं जा सकता। हो रहा है अतः मानना पड़ता है। ऐसे ही जब तक इन लीलाओं को तुम देखोगे नहीं, तब तक समझोगे नहीं, मानोगे नहीं। हम कैसे देख सकते हैं यह समझ में तो नहीं आता है परन्तु दीख रहा है अतः मानते हैं कि 'हाँ, आँखें हैं।' पूरी डाक्टरी पढ़ लो तब भी समझ में नहीं आयेगा कि कैसे सुनते हैं? सारी प्रक्रिया के बाद भी प्रश्न आ जायेगा कि सुना कैसे? यदि कहो कि, 'समझ में नहीं आ रहा तो कैसे मानें कि सुना' तो अभव्य माने जाओगे। अन्धे-बहरे होकर बैठे रहो। ठीक इसी प्रकार परमेश्वर की सृष्टि है अतः माननी पड़ती है। उसका ऐश्वर्य स्वयं देखने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते इसलिये जडबुद्धि हैं। ऐसे लोग परमेश्वर के ऐश्वर्य का निराकरण करने के लिए कहते हैं, 'ऐसा ईश्वर नहीं हो सकता।' 'व्याक्रोशीं विदधते'- आपके ऊपर तरह-तरह का लांछन लगाने को, आक्षेप करने को इन वाणियों का प्रयोग करते हैं।।४।।

श्लोक-५

शिव का वास्तविक स्वरूप क्या है? 'प्रमहसि पदे'; महः अर्थात् तेज। केवल तेज न कहकर 'प्रमहसि' कहा तो प्रकर्ष क्या है? सामान्य प्रकाश को देखने के लिए हमें आँख की रोशनी की जरूरत पड़ती है। चाहे जितनी भी रोशनी हो, पर आदमी अगर अन्धा है तो वह रोशनी किसी भी चीज़ को उसके लिए प्रकाशित नहीं करती। रोशनी का काम है जो चीज़ जैसी है उसे वैसी प्रकट कर देना। रोशनी किसी चीज को बदलती नहीं है। जो चीज़ जैसी है उसे वैसी ही प्रकट कर देती है। परन्तु किसको दिखायेगी? जिसकी आँख होगी। सामान्य रूपका दर्शन आँख की रोशनी पर निर्भर करता है। आँख की रोशनी जब होवे, तभी प्रकाश या रूप देख सकते हैं, बिना इसके देख नहीं सकते। सप्तशती के प्रारम्भ में आता है, 'दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे।' कुछ प्राणी ऐसे हैं जो दिन में नहीं देखते हैं, जैसे उल्लू, पर रात को साफ देखते हैं। रात में दिन

जैसी रोशनी नहीं है पर उनकी आँखें ऐसी हैं जो रात में देखती हैं। हम लोग रात के अन्धेरे में कुछ नहीं देख पाते पर दिन में देख लेते हैं। हर हालत में यदि आँख का प्रकाश है तो बिना बाहर के प्रकाश के भी देख सकते हो जैसे अंधकार देखते हो। परमात्मा के प्रकाश की यह विशेषता है कि उसको किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। उसके प्रकाश से तो सब प्रकाशित होता है। परन्तु वह किसी के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता। अतः कहा, 'प्रमहस्' वह प्रकाश कैसा है? तीनों गुणों से रहित है। वास्तव में यह शिव तत्त्व ऐसा है।

वही सृष्टि, स्थिति, लय करने के लिए सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को लेकर के ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के रूपों में सामने प्रकट हो जाता है। इन गुणों के रूपों को देखते हैं तो लोग शंका करते हैं। लोगों की कठिनाई यह है कि अगर उनसे कहते हैं कि, 'बढ़िया दाल का सीरा खाओ' तो वे कहते हैं, 'महाराज! हज़म नहीं होता है।' और अगर कहें, 'धुली मूँग की दाल की खिचड़ी खाओ', तो कहते हैं, 'खिचड़ी अच्छी नहीं लगती।' अब तुम्हें क्या खिलावें! निस्त्रैगुण्य बताते हैं तो लोग कहते हैं, 'बड़ा सूक्ष्म है, कुछ समझ नहीं आता', और जब स्थूल रूपों का वर्णन करने लगते हैं तो वे ही लोग उस पर तर्क से विचार करना चाहते हैं! परमात्मा के गुणों और गुणमूर्तियों के बारे में जो लोग अनेक प्रकार की शंकायें करते हैं उन लोगों को 'अभव्य' कह दिया, उनका भविष्य सर्वथा अन्धकारमय है। गुणमूर्तियों के बारे में ये ऐसी शंकायें करते हैं–

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन् मुखरयति मोहाय जगतः।।५।।

(पदच्छेदः)

किमीहः किंकायः सः खलु किमुपायः त्रिभुवनम्
किमाधारः धाता सृजति किमुपादानः इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वयि अनवसरदुःस्थः हतधियः
कुतर्कः अयम् कांश्चित् मुखरयति मोहाय जगतः।।

(सान्वयार्थः)

त्वयि = आपके, **अतर्क्यैश्वर्ये** = किसी भी तर्क से जाना नहीं जा सके ऐसे ऐश्वर्य के बारे में, **सः** = वह (ईश्वर), **धाता** = जगत् का निर्माण करने वाला, **किमाधारः** = किस पर बैठकर, **किंकायः** = किस शरीर से, **किमीहः** = किस प्रयत्न द्वारा, **किमुपायः** = कौन से औजारों से, **किमुपादानः** = किस चीज से **त्रिभुवनम्** = तीन लोकों को, **सृजति** = बनाता है, **च** = और, **इति** = इसी प्रकार के दूसरे, **कुतर्कः** = (जो ठीक दीखें लेकिन विचार करने पर गलत निकलें ऐसे) कुतर्क, **जगतः** = संसार को, **मोहाय** = भ्रम में डालने के लिये, **हतधियः** = जिनकी बुद्धि मारी गई है, **कांश्चित्** = ऐसे कुछ लोगों को, **मुखरयति** = बकवादी बनाते हैं, **खलु** = लेकिन **अयम्** = यह (कुतर्क) **अनवरसदुःस्थः**[१] = अवकाशरहित और असिद्ध है।

(१—साधारण कर्ताओं के आधार पर ईश्वरविषयक अनुमान करते हैं परन्तु वह ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, अतः वे सब अनुमान सिद्ध नहीं होते।)

उनकी शंकायें हैं 'किमीहः'? क्या चेष्टा करके परमेश्वर यह सृष्टि करते हैं? 'चेष्टा' एक ऐसा विचार है जो हिन्दीवालों को जल्दी समझ में नहीं आता। हमने रसगुल्ला देखा। यह रसगुल्ले का ज्ञान है। पहले रसगुल्ला खाया हुआ है अतः देखते ही सोचते हैं कि जल्दी 'नमः पार्वतीपते' होवे और रसगुल्ला खायें! इतनी देर तक इच्छा होने पर भी उठाकर खाते नहीं। खाने के लिये हाथ उठे यह क्रिया है; इस क्रिया और इच्छा के बीच में कोई 'चेष्टा' होती है तब हाथ उठेगा। इच्छामात्र से तो हाथ उठता नहीं। हाथ तब तक नहीं उठता जब तक प्रयत्न नहीं है, कोशिश नहीं है, चेष्टा नहीं है। चेष्टा होगी तो हाथ उठायेंगे। हाथ खुद तो उठेगा नहीं। हाथ को उठाना क्रिया हुई। इच्छा और क्रिया के बीच में जो इच्छा का कार्य और क्रिया का कारण है उसे चेष्टा कहते हैं। चूँकि सामान्यतः इच्छा के बाद चेष्टा होती है इसलिये कई बार इच्छा को भी चेष्टा कह देते हैं, फर्क नहीं करते हैं। यहाँ दोनों प्रश्न हैं कि परमेश्वर किस इच्छा से, क्या चेष्टा करता है?

पहले तो परमेश्वर के अन्दर इच्छा बनती है नहीं। जो चीज हम चाहें और वह हमें उपलब्ध न हो तब उसकी इच्छा होगी। जैसे हम चाहते हैं कि रसगुल्ला खा लेवें और रसगुल्ला आया हुआ नहीं है तो दिल्ली के बंगाली मार्केट में जाकर रसगुल्ला खरीदते हैं। परन्तु यदि थाली में रसगुल्ला पड़ा हुआ है तो रसगुल्ला खरीदने नहीं जायेंगे। जो चीज़ हमें प्राप्त नहीं है उसकी इच्छा होती है। परमात्मा आप्तकाम है। कोई इच्छा उसकी होवे और वह तुरन्त पूरी न हो जावे, ऐसा है ही नहीं क्योंकि वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। कामना हुई, संकल्प हुआ और वह तुरन्त सत्य हो गयी पूरी हो गयी।

यहाँ तक कि जो परमात्मा का पूरी तरह से भजन करते हैं, जिनका परमात्मा से सम्बन्ध दृढ हो जाता है उनके लिए कहा है, –'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'। हम देखते हैं तब उस चीज़ के बारे में बता सकते हैं। जिस चीज़ का हमें अनुभव हुआ उसे दूसरे को बतलाते हैं। परन्तु आद्य ऋषि लोग जो कहते हैं वह बाद में हो जाता है। वे किसी चीज़ को देखकर ही कहते हैं ऐसा नहीं है। वे कह देते हैं और वैसा ही हो जाता है। पुराणों के अन्दर वेदव्यासने कलियुग के अन्दर क्या-क्या होगा, कैसे-कैसे लोग होंगे, यह पहले ही वर्णन कर दिया है। पुराणों में कहा है, 'अट्टशूला: जनपदा:।' शहर ऐसे होंगे, जिनकी छतें भाले की तरह आकाश में उठी होंगी, अटारी शूल की तरह होंगी। पहले दो तल्ले के मकान होते थे तो लोग सोचते थे कि 'ऐसे ही अतिशयोक्ति कर दी होगी, ऐसे मकान तो हो ही नहीं सकते, जो आकाश छूवें।' अब डेढ़ सौ तल्ले के मकान बने होते हैं और उसके ऊपर शूल बना होता है कि बिजली न गिरे! जब आज देखते हैं तब समझ में आता है कि उन्होंने तब क्या लिख दिया था। 'कामिन्य: केशशूलिन्य:' 'औरतों के बालों में लोहे की छड़ें घुसी होंगी।' यह भी पहले नहीं समझ में आता था कि क्या लिखा है। अब दिल्ली में बड़ी-बड़ी नाइयों की दुकानों में जाओ तो औरतों के बाल लोहे के शूल डालकर कसकर बँधे दीखते हैं। पता लगता है, 'केशशूलिन्य:' का क्या मतलब। व्यासजी ने पाँच हज़ार साल पहले ही लिख दिया था। इसलिए जो उनकी वाणी कह देती है, वही घटना होती है। जो परमेश्वर के दर्शन कर लेते हैं, परमेश्वर से जिनका संसर्ग हो जाता है उन्हीं की जब यह स्थिति है तब परमेश्वर के आप्तकामत्व के विषय

में क्या कहा जाए?

अतः पहले तो उनकी इच्छा नहीं, और इच्छा होवे तो चेष्टा नहीं। बिना चेष्टा के कैसे क्रिया होगी? यह संसार उन्होंने किस चेष्टा से पैदा किया? 'किमीहः'?

जवाब तो एक ही है। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं, 'देवस्यैष स्वभावोऽयम् आप्तकामस्य का स्पृहा' उस महादेव की बस यह प्रकृति है, स्वभाव है अनन्त रूपों में अपने को दिखाना। वे आप्तकाम हैं, उनको कोई स्पृहा होवे यह संभव नहीं है। किसी अप्राप्त को प्राप्त करना है, ऐसा शिव के लिये नहीं है। जवाब तो इन सब प्रश्नों का यही है: रस्सी में साँप दीखता है तो रस्सी किस मतलब से अपने को साँप दिखाती है? क्या जवाब दोगे? रस्सी का स्वभाव है कि अन्धेरे में अनेक रूपों में दीखना। इसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मा देवाधिदेव महादेव का स्वभाव है कि अज्ञान के द्वारा अनन्त रूपों में दीखना।

परन्तु शंका करने वाला यह समझता नहीं है क्योंकि वह अनुमान पर निर्भर करता है कि परमेश्वर सृष्टि आदि क्रिया करता है तो चेष्टा भी करेगा, जैसे हम लोग चेष्टा से ही क्रिया कर पाते हैं। सृष्टि करने वाला, गुणमूर्ति वाला सचेष्ट होना चाहिए यह तर्क से प्रतीत होता है। अनुमानानुसार ही आगे शंका होती है: पहले उक्त ढंग से मान लिया ईश्वर ने चेष्टा की। अगर तुम्हारा हाथ ही नहीं है तो हाथ उठाने की चेष्टा क्या करोगे? अतः चेष्टा की बात तो तब होगी जब शरीर हो। 'किंकायः' उस देवाधिदेव महादेव का शरीर कौन-सा है? अगर शरीर है तो परिच्छिन्न होगा, सीमित होगा। अगर शरीर नहीं है तो क्रिया कर नहीं सकता क्योंकि बिना शरीर के क्रिया अनुमान से सिद्ध नहीं होती। तथा उसका शरीर उसने बनाया या किसी और ने बनाया? उसने बनाया तो फिर वही प्रश्न कि उसने शरीर बनाने से पूर्व शरीर बनाने के लिये चेष्टा कैसे की? और अगर उसका शरीर किसी दूसरे ने बनाया तो क्या दो ईश्वर हैं? अतः 'किंकायः' अर्थात् परमेश्वर का शरीर होगा तो वह परिच्छिन्न होगा, उत्पन्न होने वाला होगा, अतः उसे उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा ईश्वर होने लगेगा!

'स खलु किमुपायः' यदि मान भी लें कि ईश्वर ने चेष्टा कर ली, शरीर से क्रिया भी कर ली, पर किसी-न-किसी उपाय का सहारा लेकर ही तो करेगा? जैसे जुलाहा कपड़े बनाता है तो लकड़ी के यन्त्र से बनाता है। कुम्हार घड़ा बनाता है तो चक्के से बनाता है। इसी प्रकार परमेश्वर ने 'त्रिभुवनं' इन त्रिभुवन को बनाया तो उसके लिए उसने क्या उपाय किया? उसके लिए औजार क्या बनाये? इतनी बड़ी दुनिया बनायी तो कैसे बनायी? 'किमाधारः' कहाँ बैठकर बनायी? एक बार हम ऋषिकेश में नीलकण्ठ का दर्शन करने के लिए गये हुए थे। हमारे साथ एक सज्जन थे। उनकी समस्या थी कि जब भगवान् ने विष पिया, तो कहाँ बैठकर पिया? किसी ने कहानी बता दी होगी कि 'यहाँ भगवान् शंकर ने पिया तो नीलकण्ठ हैं।' वे हमसे बार-बार पूछें। हमने कहा, "भाई! समुद्र मंथन हो रहा था तो समुद्र के आसपास ही होंगे। ऋषिकेश में कहाँ से आयेंगे?" अर्थात् घटना सुनकर यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि वह कहाँ हुई। ऐसे ही भगवान् ने जगत् बनाया तो कहाँ बैठकर बनाया? बहुत से लोग कहते हैं कि कुरुक्षेत्र में बैठकर बनाया। कुरुक्षेत्र को वे केन्द्र मानते हैं। प्रश्न होगा कि जहाँ बैठकर बनाया वह जगह उन्होंने बनायी या पहले से किसी दूसरे ने बनाकर रखी थी?

ऐसे ही 'किमुपादानः' घड़ा बनाने के लिए मिट्टी चाहिए, कपड़ा बनाने के लिए रूई चाहिए। कार्य उत्पन्न करने के लिए कोई न कोई उपादान कारण चाहिए। जगत् को बनाने के लिए भगवान् उपादानकारण कहाँ से लाये? यदि वह पहले से था तो उसे किसने बनाया? यदि पहले से नहीं था तो आया कहाँ से?

इस प्रकार की शंकायें क्यों करते हैं? कहा 'हतधियः'। उनकी बुद्धि नष्ट हो गई। क्यों नष्ट हुई? परमेश्वर की सामर्थ्य अतर्क्य है। 'अतर्क्यैश्वर्ये त्वयि।' तुम्हारा तर्क उसके बारे में नहीं चल सकता। तुम रात में स्वप्न बनाते हो। 'किमीहः' कौन-सी इच्छा से या चेष्टा से बनाते हो? तुम भयंकर सपना बना लेते हो; चाहते तो हो नहीं कि 'हमें ऐसा स्वप्न आये'। उसके लिए क्या चेष्टा करते हो, प्रयत्न करते हो कि हमें यह-यह स्वप्न आये? वह सपना बनाते हो

तो कहाँ बैठकर बनाते हो? सपने में मकान बना लेते हो। कोई है जगह, जहाँ बैठकर बनाते हो? ईटें कहाँ से आती हैं? सीमेंट कहाँ से आती है? उसको बनाने के लिए सारे साधन कहाँ से आते है? सीमेंट को तैयार करने के लिए मशीन कौन-सी लाते हो? पुराने ज़माने में चूना घोटते थे, उसके लिए बैल कहाँ से लाये जायें? स्वप्न में यह सब कैसे करते हो? इन सब प्रसिद्ध कारकों के बिना ही तुम स्वप्न में बनाते हो। अतः इस अनुभव से समझ लो कि परमेश्वर भी ऐसे ही सृष्टि करता है। तर्क से समझ में नहीं आता है। परन्तु यदि तुम युक्ति से, अनुभव से, शास्त्र के आधार पर सोचो तो समझ में आ जाता है। तुम्हारा बनाया हुआ सपना दो-चार मिनट रहता है, अब यह 'अतर्क्यैश्वर्ये', अपनी-अपनी सामर्थ्य है। तुम जो बनाते हो, वह कुछ मिनट तक रहता है। परमेश्वर का बनाया हुआ कल्पान्त तक रहता है। बस इतना ही फर्क है। बनता तो वैसे ही है जैसे तुम्हारा सपना। शास्त्र के अनुसार समझो तो सारी शंकायें समाहित हो जाती हैं। केवल तर्क के सहारे समाधान चाहोगे तो हो ही नहीं पायेगा।

इसलिए भगवान् वेदव्यास ने लिख दिया, 'तर्काप्रतिष्ठानात्' तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। तर्क से तुम किसी नये ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकते। जो ज्ञान है उसे समझने के लिये तो तर्क काम आ सकता है। तर्क दुधारी तलवार है। दुधारी तलवार से तुम शत्रु को भी मार सकते हो और गलत ढंग से चलाओ तो स्वयं को भी मार सकते हो। इसी प्रकार तर्क से तुम सबकी बात को समझ भी सकते हो, सब की बात को काट भी सकते हो। इसलिए तर्क की प्रतिष्ठा नहीं होती है। अगर कुतर्की लोग न हों और साधारण लोगों को इस प्रकार भ्रम में न डालें तो शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके सब मुक्त हो जायेंगे! यह खेल चलता रहे इसके लिए लोगों को मोह में रखना ज़रूरी है। सप्तशती में कहा है 'बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति'। यह जो महामाया है, वह बल से इस प्रकार के कुतर्कों द्वारा मनुष्य को खींचकर संसारचक्र में घुमाती रहती है।

परन्तु सबको नहीं घुमाती। अतः कहा, 'कश्चित्' जो बुद्धिमान् लोग होते हैं, वे इन कुतर्कों के अन्दर विश्वास नहीं करते। सब लोग इस प्रकार कुतर्की नहीं होते। संसार को मोह में डालकर जन्म-मरण के चक्र में रखने के लिए, ये

लोग कुतर्क के द्वारा महामाया के खेल को चलाते रहते हैं।।५।।

श्लोक-६

कुछ लोग कहते हैं कि इस सृष्टि की, जगत् की उत्पत्ति को मानो ही काहे के लिए? यह संसार ऐसा ही है, ऐसा ही था, ऐसा ही रहेगा। इसको किसी ने बनाया नहीं। नास्तिक लोगों का कहना है कि ईश्वर वगैरह कुछ नहीं है। यह दुनिया तो ऐसी ही चलती रहती है। बौद्ध, जैन, सब ईश्वर को नहीं मानने वाले हैं। कहते हैं, 'सृष्टि अनादि है, ऐसे ही चलती रही है। बनाने वाले ईश्वर को मानना ही क्यों? कर्म करते हो, उसी का फल भोगते हो, बस यही क्रम चलता रहता है।' यदि पहले सृष्टि न हो तो उसे बनाने के लिए किसी ईश्वर की जरूरत पड़े। अत: नास्तिक कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं, यह दुनिया तो ऐसी ही है, ऐसे ही चलती रहती है।

नास्तिकों के अन्दर कुछ शिष्ट नास्तिक हैं। शिष्ट नास्तिकों का कहना है कि ईश्वर तो नहीं है पर कर्म ठीक करने चाहिए। जैन-बौद्ध ये सब शिष्ट नास्तिक हैं। ये कहते हैं कि जो करोगे आगे उसका फल भोगना पड़ेगा। बुरा करोगे तो बुरा, अच्छा करोगे तो अच्छा फल भोगोगे। फल देने वाला कोई ईश्वर नहीं है पर कर्म की अपनी ताकत है जिससे वह फल दे देगा। कुछ अशिष्ट नास्तिक हैं। वे कहते हैं, 'खाओ, पीओ, मौज करो। मरने के बाद कुछ नहीं रहता। मरने के बाद तो शव ही बचता है। इसलिए जब तक शरीर है, तब तक खाओ, पीओ, मौज करो।' भारतवर्ष के नास्तिक तो यहाँ तक कह गये कि चाहे तुम किसी का कर्जा भी लेकर खाओ, पर खूब घी खाओ। अब यहाँ विदेशी नास्तिकों का ज़ोर हो गया है। अत: अब कर्जा लेकर शराब पीते हैं! भारतीय संस्कृति का अशिष्ट भी पाश्चात्य अशिष्टों से तो अच्छा है। अब दिल्ली इत्यादि में जाओ तो लोग यही कहते हैं, ''अरे! आगे किसने देखा है।'' पैसा लेकर खा लिया, मौज कर ली। ऐसा नहीं कि एक-दो आदमियों का यह हाल हो। सारी सरकारें पचास सालों से दुनिया भर से कर्जा लेती चली आ रही हैं। किसी से कहो कि 'इतना कर्जा हो गया' तो जवाब देते हैं कि, 'लौटाना थोड़े ही है!'

इस प्रकार नास्तिक कहते हैं कि ईश्वर को मानने की जरूरत नहीं है।

परमेश्वर का ऐश्वर्य तर्क का विषय नहीं है परन्तु कुतर्की लोग परमेश्वर के विषय में कई प्रकार के कुतर्क करते हैं। अतः यह भी पक्ष रखते हैं कि संसार उत्पन्न नहीं हुआ। जैनी, बौद्ध, चार्वाक आदि यह कहते हैं कि सृष्टि हमेशा से ऐसी ही चलती रही है। अतः जब यह पैदा हुई ही नहीं तो बनाने वाले की भी जरूरत नहीं है। इस पर पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं–

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति।
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर ! संशेरत इमे।।६।।

(पदच्छेदः)

अजन्मानः लोकाः किं अवयववन्तः अपि जगताम्
अधिष्ठातारम् किं भवविधिः अनादृत्य भवति।
अनीशः वा कुर्यात् भुवनजनने कः परिकरः
यतः मन्दाः त्वां प्रति अमरवर ! संशेरते इमे।।

(सान्वयार्थः)

अमरवर ! = हे श्रेष्ठ देव महादेव **अवयववन्तः** = जो टूट सकें ऐसे अंग वाले होने पर **अपि** = भी **लोकाः** = पृथ्वी–स्वर्गादि लोक **किं** = क्या **अजन्मानः**[1] = उत्पत्तिरहित हो सकते हैं? (अर्थात् नहीं) **जगताम्** = (जब वे लोक उत्पत्ति वाले हैं तो) पृथिव्यादि लोकों की **भवविधिः** = उत्पत्ति **अधिष्ठातारम्** = कर्ता के **अनादृत्य** = बिना **किं** = क्या **भवति** = हो सकती है? **वा** = यदि (इस प्रकार संसार का कर्ता अवश्य होने पर) **अनीशः** = सर्वसमर्थ ईश्वर से भिन्न (कोई) **भुवनजनने** = संसार को उत्पन्न **कुर्यात्** = करे **कः** = (तो संसार को बनाने के लिये) कौन सी, **परिकरः**[2] = सामग्री (काम में लायेगा)? **यतः** = इस प्रकार प्रमाणों से ईश्वर के सिद्ध होने के कारण **इमे** = वे **मन्दाः** = मूर्ख लोग ही हैं जो **त्वां** = आपके **प्रति** = बारे में **संशेरते** = सन्देह करते हैं।

(१–संसार में जो जो खण्डित हों सकते हैं, वे सब उत्पत्ति वाले पाये जाते हैं। घड़े या कपड़े की ही भाँति स्वर्गादि सभी लोक इसी प्रकार टुकड़े वाले हैं अतः उत्पत्ति वाले भी हैं।

२–ईश्वर को छोड़कर सभी लोग किसी सामग्री से ही वस्तु को बनाते हैं, जैसे कुम्हार मिट्टी रूप सामग्री से घड़ा बनाता है। अतः इस संसार का बनाने वाला भी यदि ईश्वर से भिन्न मानो तो किस सामग्री से उसने बनाया? वह सामग्री कहाँ थी? इत्यादि पूर्वश्लोक में कही हुई शंकाएँ उठ खड़ी होंगी। इसलिये ईश्वर को ही संसार का बनाने वाला मानना होगा।)

अवयव अर्थात् अंग जैसे हमारे शरीर के हाथ, पैर, आँख, नाक, हृदय, यकृत, प्लीहा सब अवयव हैं, अंग हैं। अंग किसे कहते हैं? अवयव किसे कहते हैं? जिनके मिलने से अवयवी पूर्ण होता है, उन्हें अंग कहते हैं। जो पूरा होता है उसे अंगी कहते हैं। एक फर्क याद रखना : दरवाज़े के पलड़ों को अंग नहीं कहते, अवयव नहीं कहते। वे टुकड़े हैं । उनसे मिलकर ही दरवाजा बना है। परन्तु वे एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। एक–दूसरे की मदद करते हुए, आपस में एक–दूसरे से उपकृत होते हुए, सत्ता वाले नहीं हैं। हमारे शरीर के अन्दर हृदय व यकृत ऐसे दो टुकड़े नहीं जो एक दूसरे से असम्बद्ध होवें, एक दूसरे पर आश्रित न होवें।

आजकल के ज़माने में यह समझना बहुत जरूरी है क्योंकि आजकल के चिकित्सा शास्त्री यह मानकर चलते हैं कि ये सब अंग स्वतन्त्र हैं। अत: अब धीरे–धीरे यह स्थिति आ गयी कि *रोगी* के लिए कोई चिकित्सक नहीं मिलता! हृदय का चिकित्सक है ‘कार्डियोलोजिस्ट।’ आँख का चिकित्सक है ‘ओप्थेल्मोलोजिस्ट’, यकृत का ‘ग्रेस्ट्रियोएन्ट्रोलोजिस्ट’। सब उस–उस चीज़ को जानने वाले तो हैं पर रोगी को जानने वाला कोई नहीं। अत: किसी चिकित्सक के पास जाओ तो वह कभी आधा घंटा लगाकर, ‘तुम्हें क्या तकलीफ है?’ यह नहीं पूछेगा। कहेगा कि, ‘तुम यन्त्रों के सामने जाओ। मशीनें जो कहेंगी, उसे देखेंगे, उसको लेकर आओ।’ अर्थात् जड चीजें यह निर्णय करेंगी कि हमें रोग क्या है! आबूमें एक बुजुर्ग डाक्टर कहते हैं कि ‘जब हम पढ़ते थे तब हमारे

प्राध्यापक रोगी की आँखे और नाखून देखकर कह देते थे कि इसका हिमोग्लोबीन चौदह है, पौने चौदह है। तब तक ये परीक्षण मशीनें आयीं नहीं थीं। जब आने लगी तब परीक्षण भी करवाते थे। वे पहले कह देते थे कि 'चौदह है'; हम लोग परीक्षण करवाते थे तो सवा तेरह निकले। वे कहते थे, 'नहीं फिर जाकर परीक्षण करो, कुछ गलती हुई है।' हमारी मशीन ही गलत निकलती थी! दो-तीन बार प्रयोग करते थे तो वे जो कहते थे, वही आता था।'

इसी प्रकार नाड़ी देख कर चिकित्सक बतलाता था कि रोगी की तकलीफ क्या है। काशी में एक वैद्य थे। एक सज्जन को कोई तकलीफ हुई तो वैद्य जी को बुलाया। उन्होंने कहा कि, 'कल प्रातः काल बिना कुछ खाये पिये आ जाना।' जैसे ही वैद्य जी ने नाड़ी पकड़ी, रोगी दिल्ली के थे, सुनाने लगे क्या रोग है। एक-आध मिनट में वैद्य जी ने कहा, 'भाई! तुम हमारे पास आये हो निदान के लिए या खुद बतलाने कि क्या रोग है?' रोगी ने कहा, 'नहीं जी, मैं तो बता रहा हूँ कि लोग क्या कहते हैं।' उन्होंने कहा, 'नहीं, यह सब बताने की जरूरत नहीं है।' करीब बीस मिनट तक उन्होंने नाड़ी की परीक्षा की। फिर उन्होंने पूछा, 'देखो, अब जो मैं कहता हूँ उसका जवाब हाँ या न में देना। जब तुम पैदा हुए तो अमुक रोग हुआ, जब तुम चार साल के हुए तो ऐसा रोग हुआ।' हर बात का वे हाँ या न में उत्तर माँगते रहे। सारी बातें ठीक निकलती गयीं, साल भर, छह महीने पहले तक के रोगों का सही पता चलता गया। अंत में पूछा, 'अब तुम्हें यह तकलीफ है?' बोला, 'हाँ', 'अब तुम्हारा रोग समझ में आया, अब दवाई देंगे।' वास्तव में परीक्षा चेतन करता है।

लेकिन डाक्टर कहता है, 'मुझे पता नहीं लगता, टेस्ट कराओ।' टेस्ट की रिपोर्ट अगर आ गयी कि वह कीटाणु आदि नहीं है तो कहता है, 'तुम्हें कोई रोग नहीं।' रोगी कहता है कि, 'रोग भले ही नहीं है, पर तकलीफ तो मुझे है। तुम कैसे कह सकते हो कि रोग नहीं है? यह तो कह सकते हो कि हमारी समझ में रोग नहीं आया।' डाक्टरों ने औजार निकाला है रोगियों को संताने का। घरवालों से कहते हैं कि, 'इसे रोग कुछ नहीं हैं, इसे मानसिक विकार है, वहम है।' प्रश्न है कि सारा संसार ही मानसिक है क्योंकि मन है तो संसार है, मन नहीं तो संसार

नहीं! अतः डाक्टर साहब भी मानसिक हैं, दीख रहे हैं तब हैं, नहीं दीखते तो नहीं हैं। स्वप्न में नहीं रहते, सुषुप्ति में नहीं रहते हैं। लेकिन जितना डाक्टर जानते हैं उसे तो ठीक मानते हैं, जो नहीं जानते, उन सब को कहते हैं कि, 'तुम्हारी गलती है।' घरवाले भी पीछे पड़ जाते हैं, "अरे! तुम खाली सोच रहे हो, तुम्हें कुछ नहीं है।' रोगी सोचता रहता है कि मैं तो नहीं सोचना चाहता कि मैं रोगी हूँ। यह सब क्यों है? जड का भरोसा करने से कि, 'मशीन कह रही है रोग नहीं तो मैं रोगी नहीं हूँ।' मैं जो चेतन कह रहा हूँ, उसे झूठा मान रहे हैं! इस प्रकार आजकल रोगी को चिकित्सक नहीं मिलता, धीरे-धीरे तद्-तद् अवयवों का ज्ञाता मिलता है। और वे सोचते हैं कि अवयव एक दूसरे से अलग हैं, इकट्ठे हो गये हैं। इसको बौद्धों का संघातवाद कहा जाता है।

संघातवाद का अर्थ है कि चीजें इकट्ठी कर दी गयी हैं, उन सब के अन्दर कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। स्वयं वे सब अलग-अलग हैं पर एक देशकाल में जुट गयी हैं। निर्जीव चीजों का संघात हो सकता है, वे इकट्ठी होती हैं, पर सजीवों के व्यवस्थित और नियमित रूप से इकट्ठे होने में संघात नहीं होता है, अवयव बनकर अवयवी में रहते हैं सब एक-दूसरे के उपकारक बनते हैं। ऐसा होने पर ही उन्हें अवयव कहा जाता है, अंग कहा जाता है।

सृष्टि केवल परमाणुओं का, जड चीजों का समूह नहीं है। इसे जब ध्यान से देखते हैं तो सब चीज़ें एक-दूसरे की उपकारक हैं और एक-दूसरे से उपकृत हैं। गेहूँ जमीन में पैदा होता है पर हम इसे खाते हैं, अतः यह हमारा उपकारक है। आगे हमसे मल इत्यादि पैदा होता है जो खेतों के लिए खाद बनता है। ये दोनों एक-दूसरे के उपकारक हैं। हम गाय को ठीक तरह से दाना-घास खिलाते हैं। गाय हमें दूध देती है; दोनों एक-दूसरे के उपकारक और उपकृत हैं। संसार की जितनी चीजों को देखोगे पाओगे कि वे केवल जड चीजों का समुदाय नहीं है, सब एक दूसरे के उपकारक-उपकृत हैं।

इसलिए ऋग्वेद में नारायण ऋषि का दृष्ट मन्त्र है, 'पुरुष एवेदं सर्वम्' यह सब जो तुम्हें दीख रहा है यह पुरुष है। यह नहीं कहना कि औरतें कहाँ हैं? पुरुष का अर्थ है 'पूर्णत्वात् पुरुषः'। जो पूर्ण होता है, उसे पुरुष कहते हैं। पुरुष

पूर्ण है, उसके सारे अवयव एक दूसरे से उपकारक-उपकृत भाव से सम्बद्ध होकर चल रहे हैं। यदि पुरुष का यकृत ठीक नहीं है, हृदय ठीक नहीं है, फेफड़ा, प्लीहा आदि ठीक नहीं है, तब क्या कहते हैं? यह पूर्ण नहीं है, अपूर्ण है। हिन्दी में प्रयोग करते हैं 'यह विकलांग है।' इसका एक अंग कला से रहित है, अर्थात् अब उसकी पूर्णता नहीं है। पशु हो, या मनुष्य हो, यदि कोई एक अंग से अपूर्ण है तो वह बलि के योग्य भी नहीं रहता। जो पूर्ण होगा उसी की बलि भी चढ़ायी जायेगी। यह संसार पूर्ण पुरुष है इसमें कहीं भी विकलांगता नहीं है। इसमें सब एक-दूसरे से उपकारक-उपकृत भाव से सम्बद्ध हैं। ऋषि ने आगे कहा, 'यद् भूतं यत् चं भाव्यम्।' इस समय ही पूर्ण है ऐसा नहीं, पहले जो था, वह भी अब वाले से सम्बद्ध है। और 'यत् च भाव्यम्' जो भविष्य में आयेगा, वह भी इससे उपकृत-उपकारक भाव से सम्बद्ध है। अतः सृष्टि के प्रथम क्षण से लेकर सृष्टि के अन्तिम क्षणपर्यन्त, महाप्रलय पर्यन्त, सब अखण्ड है, पूर्ण है।

यह जो पूर्णता की दृष्टि है, अविकल की दृष्टि है, वह चेतन में ही सम्भव है। संसार में जितना देखते हैं उतना पता लगता है कि यह केवल जड चीज़ों का संघात, समुदायमात्र नहीं है। संसार तो एक समूची चीज़ है।

जैसे कभी किसी जूँ से पूछो 'कहाँ रहती हों?' तो कहेगी, 'जंगल में रहते हैं!' क्योंकि वह तुम्हें पूरा नहीं देख सकती तो उसे बाल जंगल की तरह लगते हैं। परन्तु तुम्हें पता है कि तुम्हारे बाल जंगल नहीं हैं, जीवित चीज़ हैं। एक बाल भी यदि टूट जाये तो सारे शरीर में टीस उत्पन्न हो जाती है। वह कोई घास का जंगल नहीं है, जैसा जूँ समझ रही है। वह उसकी अज्ञानता है।

इसी प्रकार हम लोगों को पहाड़ इत्यादि दीखते हैं तो हम समझते हैं कि ये सब जड हैं। परन्तु कविकुलगुरु कालिदास कहते हैं, 'हिमालय देवतात्मा है'। 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।' हिमालय जड नहीं है। अज्ञानवश, अविचार से हमें जड लगता है, पर है चेतन। हम संसार के इस पुरुष रूप को नहीं समझते। वर्तमान काल में बहुत से लोग हैं जो सुनते हैं, 'हिमालय में भगवान् शंकर रहते हैं। हिमालय की पुत्री से भगवान् ने ब्याह किया।' तो सोचते हैं कि हिमालय का कोई राजा रहा होगा, हिमालय पहाड़ की

पुत्री थोड़े ही हुई होगी! इसी प्रकार जूँ कहेगी कि बालतोड़ होने से कोई दर्द थोड़े ही होगी। इस प्रकार वे समझ नहीं सकते कि हिमालय देवतात्मा है, वह जड हो नहीं सकता।

इसी प्रकार कहते हैं, 'चन्द्र आदि में मनुष्य पहुँच गया। आप लोग उसे देवता मानते हैं। देवता कहाँ! वहाँ तो कोई देवता नहीं दीखे, खाली पत्थर दीखे। कहाँ है तुम्हारा देवता?' अरे! चन्द्रमा में जाने की जरूरत नहीं है। तुम जहाँ रह रहे हो, वह क्या है? पृथ्वी देवता। यह पृथ्वी भी देवता है। प्रातःकाल जब उठते हैं तब सबसे पहले प्रार्थना करते हैं-

'समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।'

'हे पृथ्वी माता! आप साक्षात् विष्णु की पत्नी हैं। समुद्र आपके वस्त्र की तरह है। पर्वत आपके स्तनों की तरह है। ऐसी भगवती! आपके ऊपर मैं पैर रखने जा रहा हूँ। मेरा ऐसा अपराध आप क्षमा करना, क्योंकि मैं इसके बिना रह नहीं सकता।' अतः यह प्रश्न नहीं बनता कि चन्द्रमा को देवता कैसे मानें जब वहाँ जहाज पहुँच गया। अरे! जहाँ तुम हो, रात-दिन चलते हो, वह पृथ्वी भी देवता है। तुम्हारे चन्द्रमा पर पहुँचने से वह देवता नहीं रह गया ऐसी बात नहीं। यह सब क्यों होता है? न समझने के कारण। इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण ने कहा, 'यः पृथिव्याम् तिष्ठन्'। जो पृथ्वी में रहता है। 'यं पृथ्वी न वेद' पृथ्वी जिसको नहीं जानती। 'यस्य पृथ्वी शरीरम्।' पृथ्वी तो उसका शरीर मात्र है। 'एष तआत्मा अन्तर्यामी'। जो पृथ्वी को भी चलाने वाला पुरुष है। उसके ये सारे अवयव हैं।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के अन्दर हर छोटी से छोटी चीजों से लेकर बड़े से बड़े पर्वत तक ये सब उसके अवयव हैं। अवयवों का छोटा-बड़ापन हमें दीख सकता है पर सब उपकारक-उपकृत भाव से सम्बद्ध होने के कारण, छोटी से छोटी चीज का भी पूर्ण महत्त्व है। एक बाल टूटने पर भी सारे अंगों से जरूरी चीज़ें वहाँ पहुँच जाती हैं। शरीर में किसी भी प्रकार के दूसरे प्राणियों का प्रवेश

हो जाए, इन्फेक्शन हो जाये तो खून के लड़ाकू अवयव (रक्त के श्वेताणु) वहाँ पहुँचकर युद्ध करना शुरु कर देते हैं। सारा शरीर ही उस परिस्थिति को सँभालने के लिए काम करना शुरु कर देता है। इसलिए कहा कि संसार 'अवयववन्तोऽपि' अंगों वाला अवयवों वाला है, केवल संघातमात्र नहीं।

अवयवों वाले सभी 'लोक' हैं। सात ऊपर के लोक, सात नीचे के लोक यों चौदह लोक प्रसिद्ध है। 'लोक्यन्ते इति लोकाः' लोक शब्द का अर्थ आचार्य शंकर कहते हैं कि जो चीज़ें दीखती हैं या लौकती हैं वे लोक हैं। अंग्रेजी में भी देखने को 'लुक' कहते हैं। बिहार में इसी अर्थ में लौकना-शब्द हिन्दी में चलता है। पंच-ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जिन्हें देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, छूते हैं, चखते हैं, वे सारे विषय लोक हैं। वे 'अवयववन्तः' सब एक-दूसरे से उपकृत-उपकारी भाव से सम्बद्ध हैं। ये लोक बिना जन्म के कैसे हो सकते हैं? जहाँ कहीं हमें अवयववाला प्राणी मिलता है वह ऐसा नहीं मिलता जो पैदा न हुआ हो। पत्थर के टुकड़ों के बारे में संदेह हो भी सकता है कि इन्हें किसी ने पैदा किया या ऐसे ही परमाणु इकट्ठे हो गये, लेकिन क्या किसी प्राणी के विषय में, अंगवाले, अवयवी के विषय में कोई कहता है कि अपने आप हो गया! वहाँ तो सर्वत्र यही कहते हैं कि इसके कोई न कोई माँ-बाप जरूर हैं। ईसा मसीह बिना बाप के पैदा हो गये, तो कहते हैं, गॉड इनका बाप था। कोई भी अंगी हो तो अवश्य ही वह जन्मवाला है। अतः अवयववाला होकर भी क्या लोकों को अजन्मा कहा जा सकता है? अवश्य ही इनका कोई न कोई बनाने वाला है।

'अधिष्ठातारम् अनादृत्य किम् भवविधिः भवति?' क्या यह 'भव-विधिः' अधिष्ठाता के बिना हो सकता है? जो अंगी है, अवयवी है, वह अवश्य ही किसी न किसी से पैदा होता है। इसे जो पैदा करने वाला होगा, सारे जगत् को, पुरुष को जो पैदा करने वाला होगा, वह किसी विशेष सामर्थ्य वाला होना ही पड़ेगा। अतः इसे पैदा करने वाला अनीश नहीं हो सकता; जो ईश नहीं, वह इसका उत्पादक हो नहीं सकता। ईश की विशेषता क्या है? जो बिना किसी बाह्य कारण के खुद ही प्रकट होकर सृष्टि करने में समर्थ हो, उसी को ईश कहा जायेगा। जो किसी चीज की अपेक्षा रखकर चीजें बनाये वह ईश नहीं है। बढ़िया

घड़ीसाज को ले आओ कहो, 'घड़ी ठीक कर दो।' देख कर कहता है, 'हाँ, ठीक कर दूँगा।' तुम कहते हो, 'अरे! तुम घड़ीसाज हो, यहीं ठीक कर दो।' कहेगा, 'औजार के बिना कैसे ठीक करूँ? ठीक तो मैं कर दूँगा।' ऐसे दूसरी चीजों की अपेक्षा करने वाले को ईश नहीं कहते हैं क्योंकि वह किसी के अधीन है, परतन्त्र है। जो इतनी बड़ी सृष्टि बनाने वाला है, वह यदि परतन्त्र होकर बनाये तो जिसके परतन्त्र होकर बनायेगा वही इसका ईश होगा। फिर प्रश्न उठेगा उसका ईश कौन है? इसलिए ईश अनीश होता है, उसको किसी चीज की आवश्यकता नहीं रहती उसका कोई और ईश नहीं होता, वह सब कुछ कर सकता है।

'अनीशो वा (यदि) कुर्यात् (तर्हि) भुवनजनने परिकरः कः?' जो अनीश होगा, ईश नहीं होगा, सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होगा, वह इतने बड़े भुवन को उत्पन्न करने में कैसे प्रवृत्ति कर सकता है? बनाने में समर्थ कैसे हो सकता है? अनीश संसाररचना करे तो परिकर अर्थात् सामग्री क्या होगी? अर्थात् वह सामग्री विश्व के अंतर्गत तो होगी नहीं अतः उसका रचयिता अन्य मानना पड़ेगा जिससे अनंत ईश्वर मानते जाना पड़ेगा। ये सब असंगत बाते हैं। अतः ईश ही संसार बनाता है यही उचित है।

अनीश्वर ब्रह्माण्ड को अवयवी नहीं समझ सकता। ईश परमात्मा ही सब व्यवस्थाएँ करता है, बड़ी विचित्र व्यवस्थाएँ करता है। भोजन का समय होता है। आजकल लोगों की तबियत क्यों खराब रहती है? रूस के अन्दर एक वैज्ञानिक हुआ है। उसने एक प्रयोग किया : उसने कुत्ते के पेट के अन्दर एक यन्त्र लगा दिया जिससे पता लगे कि उसमें क्या स्राव आदि होता है। फिर उसने घंटी बजाकर निश्चित समय पर भोजन दिया। ऐसा जब उसने महीने-दो-महीने किया तब पाया कि घण्टी सुनते ही कुत्ते के पेट में भोजन पचाने का स्राव उत्पन्न हो जाता था क्योंकि वह जब घंटी बजाता था तब नियमतः उसे भोजन दे देता था। अब उसके पेट में उसी समय स्राव उत्पन्न हो जाने लगा जब वह घंटी बजा देता था। फिर उसने प्रयोग किया कि घंटी तो बजाये पर तत्काल उसे खाने को न दे, देर कर किसी भी समय देवे। स्राव तो घण्टी बजने पर होता

था और कुछ काल में बन्द हो जाता था। जिस समय वह भोजन देवे तब स्राव बन्द हो जाता था। ऐसा करने पर कुत्ता बीमार रहने लग गया। फिर वैज्ञानिक ने नये समय पर नियम से भोजन देना शुरु किया। अब उस नवीन समय ही स्राव होने लगा। विचार करो; घंटी सुनता है कान, अथवा समय का अन्दाज लगाती है सूर्यादि को देखकर आँख, परन्तु स्राव पेट में शुरु हो जाता है! आँख और पेट का कोई सम्बन्ध है? तुम आत्मा हो। तुम आँख में भी मौजूद हो, पेट में भी। तुम ही उनका सम्बन्ध करते हो।

पेट खराब करने का तरीका क्या है? खाने का समय निश्चित न रखना। तब पेट को पता ही नहीं रहता कि कब पाचन कार्य करना है। आजकल लोग इसे 'सैनिक शासन' मानते हैं कि निश्चित समय पर खाओ, उनका कहना है जब इच्छा हो तब खाया जाये, किन्तु पेट स्वस्थ रखन के लिये समय निर्धारण कारगर तरीका है क्योंकि पाचनव्यवस्था भगवान् की बनायी हुई है।

आजकल मधुमेह का रोग बहुत क्यों हो रहा है? बड़ी सीधी-सी बात है : जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ तब तक कोई-न-कोई भय की स्थिति सामने आनी ही है। इसलिए भगवान् ने दैवी सम्पत्ति में सबसे पहले गिना है 'अभयम्' भय रहित होना। संसारी लोगों के लिए तो यह सम्भव है नहीं। निरन्तर किसी न किसी का भय होता है। किसी को सेल्स टैक्स के अफसर का भय है, किसी को इन्कम टैक्स के अफसर का भय है। न जाने किस-किस चीज का भय है! नौकरी कर रहा है तो बड़े बाबू का भय है, ट्रान्सफर का भय है। हर समय भय की परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। जब जीवन में कोई भय सामने आता है जैसे कोई शेर आया, भालू आया, तब दो काम कर सकते हो- या उससे लड़ो या वहाँ से भाग निकलो। समाधान तो दो ही हैं। लड़ने के लिए खून में जरूरत पड़ती है चीनी की। खून में चीनी रहेगी तभी तुम भली भाँति लड़ सकते हो। और यदि भागना है तो भी खून में चीनी की जरूरत पड़ेगी। क्योंकि तभी तुम भाग सकते हो। भय होने पर कोई न कोई जबरदस्त काम तुम्हें करना जरूरी है जिसके लिए तुम्हें शरीर तैयार करना है ताकि वह काम करते समय तुम्हें ऊर्जा मिल जाये। इसीलिये खून के अन्दर चीनी आ गई। यदि लड़ते हो तो भी तुम्हारी

चीनी खर्च हो जायेगी और भागते हो तो भी चीनी खर्च होनी है। लेकिन तुम क्या करते हो? न तो भागते हो, न लड़ते हो। ऊपर से तो दाँत दिखाकर ही-ही करते हो और अन्दर से हाय-हाय करते हो! जो चीनी बढ़ी है वह काम में तो आ नहीं रही है। मुक्का भी मारते तो कुछ चीनी खर्च होती, वह भी तुमने नहीं किया। जो चीनी बढ़ी हुई है, वह क्या होगी? धीरे-धीरे चीनी बढ़ती ही जायेगी और शक्कर की बीमारी हो जायेगी।

यह सब क्या बतलाता है? तुम्हारे सारे अवयव आपस में सम्बद्ध हैं और उनका आपसी ताल-मेल बैठाने वाले तुम नहीं वरन् ईश्वर है। जैसे तुम्हारे शरीर में आत्मा है अतएव शरीर चलता है, वैसे ही सारे ब्रह्माण्ड में वह पुरुष रहता है जिससे हर जगह, हर चीज़ पर प्रभाव पड़ता है। ऐसा नहीं पूछ सकते कि जहाँ कारण नहीं वहाँ प्रभाव कैसे हो गया क्योंकि जहाँ कारण आया और जहाँ प्रभाव हुआ दोनों जगह रहने वाला आत्मा एक ही है। जैसे शरीर में आत्मा एक होने से आँख ने शेर देखा तो भीतर चीनी बनना प्रारंभ हो गयी।

संसार अवयववाला होने से उसकी सृष्टि करने वाला ईश ही हो सकता है, परन्तु मन्द बुद्धिवाले इसको नहीं समझते। मन्द बुद्धिवाले टुकड़ों को ही देखते हैं। टुकड़ों को भी जड समझते हैं। उन टुकड़ों के पीछे जो चेतन सत्ता कार्य कर रही है, उसको नहीं समझते हैं। इसलिए 'त्वां प्रति इमे संशेरते' आपके प्रति, आप जो चेतन हैं, शिव हैं, उनके प्रति संशय करते हैं। सोचते हैं कि सब जड ही जड है, इसका निर्माता, संचालक कोई सर्वज्ञ-सर्वसमर्थ चेतन है ही नहीं। अंग्रेजी की एक पुरानी किताब है, आपने पढ़ी होगी जिसमें कहानी है कि एक आदमी ऐसे देश में पहुँचा जहाँ बहुत छोटे-छोटे आदमी हुआ करते थे, चींटीं से भी छोटे! वे सब उस आदमी पर चढ़कर देखने लगे कि यह क्या है! ठीक यही हालत हमारी है। हम उस परब्रह्म परमात्मा के ऊपर चढ़े हुए हैं और कहते हैं, 'यह तो जड पड़ा है, चेतन तो है ही नहीं!' जो मन्द बुद्धिवाले हैं वे संशय करते हैं।

किन्तु आप कैसे हैं? 'अमरवर'अमर अर्थात् देवता। देवाताओं में आप वर हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं। शिव स्वतंत्र ज्ञान वाले हैं। बाकी जो प्रकाशवाली, ज्ञानवाली

चीजें हैं वे शिव के पराधीन हैं। हमारी आँखें देखती हैं परन्तु आँखें जो ज्ञान करती हैं वह तभी जब मन होवे। अगर मन नहीं है तो आप कुछ नहीं देख सकते। जब विश्व युद्ध की लड़ाई में जर्मनी हार गया तो छः महीने के लिए हिटलर अन्धा हो गया! आँख में कोई खराबी नहीं थी, चिकित्सकों ने कहा कि आँख में कोई खराबी नहीं, परन्तु 'मेरा देश हार गया यह मैं देख ही नहीं सकता' इस द्रढिष्ठ भावना से मन हारे हुए जर्मनी को देख ही नही सकता अतः आँखें छः महीने कुछ देख ही नही सकीं। मन यदि नहीं है तो आँखें होते हुए भी दीखेगा नहीं। इसलिए आँख 'देव' तो हैं, प्रकाशवाली तो हैं पर मन के अधीन हैं। आगे मन स्वयं भी बिना अहंकार के, बिना बुद्धि के देख नहीं सकता। 'मैं' यदि नहीं होता तो मन नहीं देख सकता, कुछ नहीं कर सकता। आप सब साधक हो ही। ध्यान करने बैठते हो, ध्यान में मगन हो। उस समय बड़ा भारी भूकम्प आ जाता है। आपके कमरे के शीशे टूट जाते हैं। आप बहरे नहीं हो, कान आपका काम कर रहा है। परन्तु आपका मन ध्यान कर रहा है, अतः 'मैं' मन को इन्द्रियों द्वारा देखने के लिये प्रवृत्त नहीं कर रहा हूँ, अतः सुन नहीं सकते, देख नहीं सकते भूकंप का पता ही नहीं चलता। अतः मन भी मेरे अधीन है। यह 'मैं' भी जन्मता है, मरता है। रोज जब आप गहरी नींद में जाते हो तो 'मैं' नहीं रह जाता, इसकी कोई प्रतीति नहीं होती। उसके बाद जगते हैं तब पता लगता है 'मैं हूँ।' 'मैं' भी पैदा होनेवाला, और खत्म होनेवाला है। इसलिए 'मैं' को भी जाननेवाला प्रकाश चेतन है, वह चिन्मात्र 'अमरवर' सारे जानने वालों में ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा अमरवर है। आप शिव ही अमरवर हैं।

मन बुद्धिवाले अमर को ही नहीं समझ पाते, ज्ञान वाले प्रकाशक को ही नहीं समझ पाते तो जो ज्ञानों का भी ज्ञान है उसे ये कहाँ से समझेंगे? आपके विषय में ये संशय इसीलिये करते हैं कि उनकी बुद्धि मंद है। मन्द बुद्धि अर्थात् परिच्छिन्न में ही रुकी रहने वाली बुद्धि। जो सीमित चीज को सोचनेवाला है वह मन्दबुद्धि है। बुद्धि की उत्तमता यह है कि वह आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सब चीजों को ग्रहण कर सके। मन्द बुद्धि वह है जिसे जो चीज सामने है उसके

सिवाय कुछ नहीं दीखता है। जिस प्रकार आँखें जिसकी खराब हैं उसे पास की चीज तो दीख जाती है पर दूर की चीजें नहीं दीखती। हमारी आँखों में मोतियाबिन्द होने लगा तो हमने डाक्टर से पूछा कि यह कैसे पता चले कि कब ऑपरेशन करवाना है? उसने कहा, ''आप अपनी चार अंगुलियाँ सामने कर लें, जब तक दीखें, तब तक ठीक है। जब न दीखें, तब ऑपरेशन करा लें।'' अर्थात् जब इतनी नजदीक की चीज न दीखे तब समझो कि आँखें काम नहीं कर रही हैं। इसी प्रकार जो सामने हो उसी को हमारी बुद्धि देख सके, उसके आगे न देख सके तो कहेंगे बुद्धि मन्द है। इन लोगों की मन्दता क्या है? अपनी जो रोज की आवश्यकता है, उतना ही ये समझते हैं। जीवन का लक्ष्य क्या है? कहाँ जाना है? यह नहीं सोचते। बस, 'आज क्या होगा' इतने का ही विचार है। कहते भी है-'तीन चीज रह गयीं-लून, तेल, लकड़ी।' प्रतिदिन का व्यवहार हमारे सिर पर ऐसा चढ़ा रहता है कि उससे आगे की सोच ही नहीं पाते अतः अमरवर, जो साक्षात् सदाशिव हैं उन्हें कैसे समझ सकते हैं! इसी से उनके विषय में संशय ही संशय होते रहते हैं। उस अमरवर को समझने के साधन कौन से हैं, यह आगे बताना है।।६।।

श्लोक-७

अमरवर, देवताओं के वर महादेव की प्राप्ति के साधन कौन से हैं?

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।७।।

(पदच्छेदः)

त्रयी सांख्यम् योगः पशुपतिमतम् वैष्णवम् इति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परम् इदम् अदः पथ्यम् इति च।
रुचीनाम् वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल-नाना-पथजुषाम्
नृणाम् एकः गम्यः त्वम् असि पयसाम् अर्णवः इव।।

(सान्वयार्थः)

त्रयी = वैदिक सनातन धर्म, **सांख्यम्** = कपिलमुनि-प्रणीत सांख्यमार्ग, **योगः** = पातंजल योगमार्ग, **पशुपतिमतम्** = शैवमार्ग, **वैष्णवम्** = वैष्णवमार्ग **इति** = इतने **प्रभिन्ने** = अलग–अलग **प्रस्थाने** = रास्तों में से **इदम्** = यह मार्ग **परम्** = सर्वोत्तम है **च** = या **अदः** = वह मार्ग **पथ्यम्** = हितकारी है **इति** = ऐसा **रुचीनाम्** = रुचियों के **वैचित्र्यात्** = भिन्न होने से (है)। **ऋजु-कुटिल-नाना-पथ-जुषाम्** = इन सीधे या घुमावदार रास्ते से चलने वाले **नृणाम्** = मनुष्यों को **पयसाम्** = नदियों के लिये **अर्णवः** = समुद्र की **इव** = तरह **त्वम्** = आप ही **एकः** = एकमात्र **गम्यः** = प्राप्त करने के योग्य **असि** = हैं।

(इनमें सनातन वैदिक धर्म व दूसरे मार्गों को क्रमशः सीधा और कुटिल मार्ग कहा गया है।)

आस्तिक दर्शन आपकी प्राप्ति के साधन बतलाते हैं। कुछ आस्तिक दर्शन हैं, कुछ नास्तिक दर्शन हैं। 'परमेश्वर है' इस बात को जो मानते हैं वे आस्तिक हैं। भले ही नास्तिकों का मुँह बन्द करने के लिये अपनी दर्शन–प्रक्रिया ईश्वर के बिना भी रचकर दिखाते हैं पर आस्तिक मानते ईश्वर को हैं। 'परमेश्वर है' का क्या मतलब है? 'परमेश्वर क्या है' जब तक यह नहीं पता लगे तब तक 'परमेश्वर है' मानने से क्या होगा? नास्तिक यवन भी कह देते हैं 'हम भगवान् को मानते हैं।' वे किसे मानते हैं–यह सोचना पड़ता है।

दो तरह की चीजें हैं- एक तो इन्द्रियों से दीखती हैं, जिनका ज्ञान होता है, इन्द्रियों से। लोग कहते हैं कि 'भाई! पानी को अलग–अलग भाषाओं में अलग–अलग शब्दों से कहते हैं पर कहते तो सब पानी को ही हैं।' अलग–अलग भाषाओं में पानी को कह रहे हैं, यह हमें तब पता लगा जब हमने पानी को आँखों से देख लिया। अब भले ही उसे तुम दस नामों से कहो। ऐसे परमेश्वर सामने तो है नहीं कि तुम दिखाकर बता सको, 'इसे हम गॉड कहते हैं, इसे हम जहोवा कहते हैं'। सामने लड़की बैठी है। एक कहता है कि, 'हम इसे शालिनी कहते हैं', दूसरा कहता है, 'हम इसे पप्पू कहते हैं'। बैठी दीख

रही है तो हम समझ लेते हैं कि इसके दो नाम हैं। परन्तु जो चीज सामने नहीं है उसके बारे में पूछना ही पड़ेगा कि तुम किसकी बात कर रहे हो?

सृष्टि बनाने में अपने से भिन्न न किसी उपादान कारण को चाहे, न किसी उपकरण को; किसी भी, चीज की बिना सहायता लिये जो सृष्टि बनाने में समर्थ है, उसे हम ईश कहते हैं, ईश्वर कहते हैं। जब दूसरों से पूछते हैं कि, 'तुम जिसे गॉड आदि मानते हो, क्या वह ऐसा स्वतन्त्र है?' तो वे कहते हैं, 'ऐसा तो नहीं है। उसमें सब चीजों की पराधीनता रहती है।' ईसाई खुद मानते हैं कि गॉड के पास सामग्री समाप्त भी हो जाती है इत्यादि। तब जिसे वे गॉड आदि कह रहे हैं वह ज्यादा से ज्यादा 'अमर' हो सकता है, देवता हो सकता है; देवाधि-देव नहीं हो सकता।

ऐसे सर्वत्र स्वतन्त्र 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ' ईश को बतलाने वाले कौन? वेद! वेद से ही उसका ज्ञान होता है। याज्ञवल्क्यने जब परमेश्वर विषयक प्रश्न किया, तो पूछा, 'उपनिषदों में जिस परमेश्वर को कहा है उसे बताओ।' ब्रह्मसूत्र में भी जब कहा कि ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करो तब प्रश्न हुआ कि ब्रह्म का पता कैसे लगता है? तब कहा, 'शास्त्रयोनित्वात्' उसको जानने के लिये एक ही साधन है- वेद। अत: जो वेद को मानते हैं उनका रास्ता हुआ 'त्रयी'। वेद में कहा कि शिव के अन्दर तीन चीजें हमेशा रहती हैं। एक तो शिव चेतन है, ज्ञानस्वरूप है। जब उसमें बुद्धि, अन्त:करण आयेगा तब उस बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश पड़ेगा। दूसरी है इच्छा-शक्ति। जब कभी कोई चीज बुद्धि में आनन्द की वृत्ति बनायेगी तब उस चीज के प्रति उस अन्त:करण की वृत्ति प्रेमाकार हो जाएगी। इसलिए चित् और आनन्द दोनों कहते हैं। चित् अर्थात् ज्ञानस्वरूप, आनन्द अर्थात् प्रेमस्वरूप है। तीसरी शक्ति है क्रियाशक्ति। जब प्राण आत्मा के सामने आयेगा तो उसके अन्दर क्रिया की अभिव्यक्ति होगी। आत्मा के सामने बुद्धि आयी तो ज्ञान प्राप्त हुआ, मन आया तो इच्छा प्राप्त हुई, प्राण आया तो क्रिया प्राप्त हुई। ये तीनों ही सूक्ष्म शरीर हैं। स्थूल शरीर हो गया अन्नमय। उसके अन्दर प्राणमय, उसके अन्दर मनोमय और उसके अन्दर विज्ञानमय; प्राण, मन और बुद्धि- ये तीनों हमारे सूक्ष्म शरीर हैं। आनन्दमय

कारण शरीर है।

ये शक्तियाँ जब तक अनात्मा अर्थात् परमात्मा से भिन्न को विषय करती हैं, तब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं। जब ये तीनों परमात्मा को विषय करें तब परमात्मा की प्राप्ति हो। अर्थात् परमात्मा का ही ज्ञान हो, परमात्मा की इच्छा हो, और परमात्मा के लिए ही कर्म किये जायें तब परमात्मलाभ हो। गीता में बतलाया –

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।'

'मत्कर्मकृत्' मेरे लिए कर्म करने वाला होवे; प्राणशक्ति परमेश्वर के लिए प्रयुक्त होवे। 'मत्परमः' चित्त के द्वारा परमेश्वर को ही परम समझे कि वह ज्ञानस्वरूप ही श्रेष्ठ है। 'मद्भक्तः' परमात्मा से ही प्रेम होवे। ये तीनों होंगे, कब? 'संगवर्जितः'। ये जो अनात्मपदार्थ हैं इनमें आसक्ति छोड़ेंगे, तब। इनमें आसक्ति ही हमें परमात्मा से दूसरी तरफ खींचती है। त्रयी अर्थात् वेद यह कहता है कि अपनी ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों को परमात्ममुखी करोगे, तब सत्–चित्–आनन्दरूप परमात्मा का पता लगेगा।

यह लोगों को कठिन लगता है। तीनों का प्रयोग करना कठिन लगता है। आस्तिकों में ही किसी ने एक को प्रधान माना है, किसी ने दूसरे को। कोई ज्ञान की ही बात करता है, कोई भक्ति ही करता है, कोई कर्म ही करता है। पर वेद तो कहता है, तीनों करना है। लोग प्रायः पूछते हैं कि इनमें से प्रधान कौन है? तुम्हारे अन्दर तो तीनों हैं, तीनों समान रूप से प्रधान हैं। लेकिन तीनों को शिवोन्मुख करने में कठिनाई देखकर एक–एक को लेकर मत बने।

एक मत आया कपिलका, वह है सांख्य मत। सांख्य का मतलब होता है ज्ञान, सम्यक् ज्ञान। गीता में इसी अर्थ में प्रयोग है। गीता में भगवान् कहते हैं, 'सांख्ययोगौ पृथग्बाला', वहाँ आचार्य शंकर स्पष्ट कहते हैं कि सांख्यका अर्थ कपिल–वाला मत नहीं है। सांख्य अर्थात् सम्यक् ज्ञान, वेदान्त जिस अर्थ को

बतलाता है। कपिल ने अपने मत का नाम सांख्य क्यों रखा? उन्होंने विवेक ज्ञान को ही प्रधान कहा कि विवेक ज्ञान हो जायेगा तो मोक्ष हो जायेगा। 'अन्तःकरणं से मैं अलग हूँ' यह समझना ही उनका ज्ञान है। अन्तःकरण को वो लोग सत्त्व कहते हैं। पुरुष को उससे अलग मानते हैं। यह जो भेदज्ञान है कि 'अन्तःकरण से मैं अलग हूँ' उसी को मोक्ष का कारण मानते हैं अतः उनके मत में वही प्रधान है। इसके अन्दर 'त्वम्पदार्थ' का शोधन तो हो जाता है, जीव को अपने स्वरूप का पता तो लगता है, पर अपनी ब्रह्म से एकता का पता नहीं लगता। इसलिए सांख्य मतवादी अनेकात्मा मानते हैं! और संसार को सच्चा मानते हैं। उनका मानना है कि तुम अपने को जान लो, बाकी तो सब ऐसा ही रहेगा। इनके मत में ऐसी भी प्रक्रिया है जिसमें ईश्वर को मानने की भी जरूरत नहीं है।

दूसरे हैं योग। योगवालों ने कहा कि अन्तःकरण से तब तक आत्मा को अलग नहीं जान सकते जब तक अन्तःकरण सर्वथा शान्त न हो जाये। इसलिए प्रधान तो है चित्तवृत्ति का निरोध। चित्तवृत्ति को निरुद्ध करोगे तब अन्तःकरण की समाधि होगी और तब ज्ञान होगा। ज्ञान तो वही है जो सांख्यवादी द्वारा कहा जा रहा है लेकिन अन्तःकरण के अन्दर निर्विकल्प समाधि का संस्कार लाना पड़ेगा। इसे लाने के लिए उपाय बतलाने वाला परमेश्वर है। इसलिए योगशास्त्र परमेश्वर को मानता है। 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' सांख्यवादियों ने ज्ञान को माना, योग को मानने वालों ने कहा कि ज्ञान, विवेकख्याति तो ठीक है पर उसके लिये समाधि चाहिए। जब तक तीनों गुण काम करते रहेंगे, तब तक विवेकख्याति होगी कैसे? अतः निर्विकल्प समाधि जरूरी है, चित्त की वृत्ति का निरोध जरूरी है।

'पशुपतिमतं' शैवमत वाले कहते हैं कि ईश्वर से परमप्रेम होना चाहिए, मन का निरोध करने मात्र से काम नहीं चलेगा। इन्होंने प्रेम अर्थात् इच्छा शक्ति पर जोर दिया। 'वैष्णवमिति' वैष्णवलोगों ने कहा कि विष्णु संसार की रक्षा करने वाले हैं अतः संसार की रक्षा करनेवाला जो कर्म है, उसी से काम हो जायेगा। कर्म में पूजा-पाठ, जप सभी आ जाते हैं। इसलिए यहाँ शैव और वैष्णव का मतलब 'शिव का पूजन और विष्णु का पूजन' नहीं समझना है। जो यह मानता

है कि शिव सर्वत्र विद्यमान है अतः उनके प्रति प्रेम स्वाभाविक है वह 'पशुपतिमतम्'। जो यह मानता है कि उसके लिए कर्म करना ही प्रधान है वह हुआ वैष्णव। इसलिए कभी 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करोगे तो पहला नाम विष्णु नहीं है, 'विश्वं विष्णुर्वषट्कारः' पहला शब्द है 'विश्व'। विश्व अर्थात् कर्म को ही लेकर चलते हैं अतः उनके अनुसार कर्म प्रधान है। इस प्रकार एक ने कर्म पर जोर दिया, दूसरे ने इच्छा पर जोर दिया, तीसरे ने ज्ञान पर जोर दिया।

ये सभी रास्ते आस्तिकों के हैं, 'प्रभिन्ने प्रस्थाने।' सारे रास्ते अलग-अलग हैं। कोई कहता है 'इदं परं'। यह रास्ता श्रेष्ठ है, दूसरा कहता है, 'अदः पथ्यम्' यह रास्ता चलने लायक है। इस प्रकार से कहते हैं। इसका कारण है, 'रुचीनां वैचित्र्याद्।' सबकी रुचियाँ अलग-अलग हैं। कोई कर्मप्रधान व्यक्ति होते हैं। कोई ज्ञानप्रधान व्यक्ति होते हैं, कोई प्रेमप्रधान व्यक्ति होते हैं। एक जिस रास्ते को पकड़ता है वह उसी रास्ते को श्रेष्ठ मानता है। इसलिए कहा कि रुचियों की विचित्रता है। 'ऋजुकुटिलनानापथजुषां' कोई तो ऋजु अर्थात् सीधा रास्ता है। त्रयी जो वेद हैं, वह सीधा रास्ता है। हमारी तीनों शक्तियाँ हैं, तीनों को परमेश्वर में लगाओ, काम हो जायेगा। दूसरे रास्ते कुटिल हैं क्योंकि एक रास्ता पूरा होगा तब भी उससे यात्रा पूरी नहीं होगी, दूसरे रास्ते पर भी चलना पड़ेगा।

उत्तम व्यायाम करने वाला शरीर के सारे अंगों का व्यायाम करता है। जब आसन कराते हैं तब हमेशा सारे अंगों के आसनों को कराया जाता है। विदेशी इस बात को नहीं समझते और अब भारतवर्ष में भी ऐसे लोग हो गये हैं। एक अंग का या दो अंगों का व्यायाम कर लेते हैं। एक अंग के व्यायाम से उसकी पुष्टि हो जायेगी पर दूसरे अंगों में दुर्बलता महसूस करोगे। जो शुरु से ही यह समझने वाला है, वह सबका व्यायाम इकट्ठा करता है, उसे यह तकलीफ नहीं आती: वेद का मार्ग सीधा मार्ग है क्योंकि उसमें सच्चिदानन्द रूप का सार प्रकट हो जाता है। अन्य जो रास्ते हैं उनमें किसी में कोई रूप तो किसी में कोई रूप प्रकट होता है। सम्पूर्ण स्वरूप प्रकट करने वाला कोई अन्य मार्ग नहीं है।

परन्तु 'पयसामर्णव इव।' कोई नदी पूरब की ओर बहकर जाती है, कोई पश्चिम की ओर बहकर जाती है। नर्मदा पश्चिम को जाती है, कावेरी पूरब को

जाती है। कोई बहुत घूमकर जाती है जैसे-गोदावरी, कोई कम घूमकर जाती है। परन्तु पहुँचती सब हैं समुद्र में। इसी प्रकार ये जो रास्ते बतलाये, ये सभी पहुँचते परमेश्वर तक हैं। 'इति' अर्थात् इतने ही, बस इतने ही परमेश्वरप्राप्ति के रास्ते हैं। 'नृणामेको गम्यः'। इनमें से किसी भी एक रास्ते पर चलोगे तो उस 'अमरवर' परमेश्वर को प्राप्त कर लोगे।

सनातन धर्म पर सबसे बड़ा आक्षेप यही किया जाता है कि इसमें भेद बहुत हैं। पूजा-पाठ में देवताओं में आचार-विचार में भेद है। वर्तमान काल में अनेक लोग प्रयत्न कर रहे हैं कि एकरूपता हो जाये। कुछ हैं जो कहते हैं कि गायत्री मन्त्रका ही जाप करो। कोई मरे तो उसे गायत्री मन्त्रद्वारा ही जलाओ। शादी होती है तो गायत्री, बच्चा होता है तो गायत्री और मरे तो गायत्री। इस विचार धारा का एक संगठनात्मक पक्ष है। वर्तमान काल में लोग सोचते हैं कि इस संसार की दृष्टि को प्रधान रखा जाये। वे मानते हैं कि परमार्थ की दृष्टि भी इस संसार के लिए है। कई लोग कहते भी हैं कि धर्म तो संसार को ठीक से रखने का एक तरीका है। यदि संगठन चाहते हो तो एकरूपता होनी चाहिए। लेकिन यदि अनुष्ठान हृदय से करना है तो वैविध्य रहेगा।

लोगों के विविधता-सम्बन्धी आक्षेप का समाधान दे दिया, 'रुचीनां वैचित्र्याद्'। अध्यात्मशास्त्र इहलोक के लिए नहीं है। वह तो तुम्हारे और परमात्मा के सम्बन्ध के लिए है। अतः एकरूपता, संगठन, ये सब नहीं करने चाहिए, ऐसा नहीं कहते परन्तु इसका सम्बन्ध धर्म के साथ नहीं हो सकता। धर्म का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से है। समाज में, देश में हो अतः समाज के लिए करो, देश के लिए करो; घर में हो तो घर के लिए करो। उन के लिये जो चाहे सो करो। परन्तु उसका सम्बन्ध अध्यात्म से नहीं है। जैसे वृत्त का प्रत्येक बिन्दु केन्द्र से बराबर दूरी पर होता है। परन्तु बराबर दूरी पर होने पर भी क्या वे सारे बिन्दु एक हैं? दूरी बराबर है। इसी प्रकार परमात्मा तो केन्द्र है। जीवात्मा उसका प्रतिबिम्ब होने से वृत्तों के बिन्दु हैं। प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा से बराबर दूरी पर है। परन्तु बिन्दुओं को देखोगे तो कोई पूरब की तरफ, कोई पश्चिम की तरफ, कोई उत्तर की तरफ, कोई दक्षिण की तरफ है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव परमात्मा से बराबर

दूरी पर है। परन्तु उसका रास्ता प्रत्येक व्यक्ति की रुचि से अलग होगा। अतः सबके लिये एक रास्ता नहीं हो सकता।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणात्मक सृष्टि के अन्दर प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का तारतम्य होता है। सत्त्वगुण प्रधान होता है तो पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ब्राह्मण के घर जन्म लेता है। सत्त्वगुण जब गौण होकर रजोगुण अधिक होता है तब क्षत्रिय के घर में जन्म लेता है। रजोगुण प्रधान होकर जब तमोगुण गौण होता है तो वैश्य के घर में पैदा होता है। और तमोगुण प्रधान होता है तो शूद्र के घर जन्म लेता है। पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये हैं, जैसा जीवन व्यतीत किया है, उन-उन गुणों को लेकर वहाँ-वहाँ पैदा हुआ है। उसके अनुसार जब वह कर्म करेगा तब वह सीधा चलेगा। अगर दूसरे की नकल करेगा तो वह रास्ता उसका रास्ता नहीं है। तमोगुणी भी उतना ही दूर हैं, जितना सत्त्वगुणी। इसलिए परमात्मा की भक्ति, परमात्मा का ज्ञान, इनमें सबको एक समान अधिकार है। यह नहीं है कि ब्राह्मण को ज्ञान ज्यादा होता है और शूद्र को कम होता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि सत्ययुग के अन्दर वशिष्ठादि को जो ज्ञान होता था और कलियुग में जो ज्ञान हमें होता है, उसमें फर्क नहीं है। ज्ञान में अधिकार सबको है परन्तु अलग-अलग रास्ते हैं।

वर्तमान काल में लोग केवल विदेशियों की ही नहीं, आपस में भी नकल करते हैं, कहते हैं- 'मैं ब्राह्मण की तरह क्यों न करूँ?' बुरा न मानना। ब्राह्मण कहता है, 'मैं शूद्र की तरह क्यों न करूँ?' 'रुचीनां वैचित्र्याद्' में रुचि का अर्थ 'मनमाना' मत समझना। हिन्दी में रुचिका अर्थ है, 'जो अच्छा लगे।' किन्तु रुचिका एक अर्थ संस्कृत में होता है 'तेज'। जो तेज तुम में है, उस तेज के अनुसार कार्य करोगे तो सिद्धि पाओगे। परमेश्वर ने तुम्हारे तेज को देखकर, तुम्हारी सामर्थ्य को देखकर तुम्हें जन्म दिया। अतः मनमानी रुचि नहीं कि हमें जो अच्छा लगे वह करें। जो तुम्हारे तेज को, सामर्थ्य को देखकर परमेश्वर ने तुम्हें स्थान दिया, वही रुचि है और उसके अनुसार चलोगे तो पहुँच जाओगे। जब हम दूसरे के धर्म की नकल करने लगते हैं तब धोखे में पड़ते हैं। जैसे अर्जुन ने कहा कि मैं भिक्षा माँगकर गुज़ारा कर लूँगा। भगवान् ने उससे कहा, 'मिथ्यैष

व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।' यह जो तू निश्चय कर रहा है, वह झूठा निश्चय है। तेरा स्वभाव तो यह है नहीं। इस समय तू मोह के कारण सोचता है कि 'दूसरे की नकल कर लूँ।' यह तुमसे निभेगा नहीं।

एक हमारे भक्त थे, पाकिस्तान बनने पर भारत आये। यहाँ रोजगार के लिए एक बनिये के साथ हो लिये। हमने कहा भी कि बनिये के साथ तुम्हारा निर्वाह होगा नहीं। बोले, 'नहीं - नहीं महाराज, बहुत अच्छा आदमी है।' काम करना शुरु क्रिया। इन्हें कार्य करने का अच्छा ज्ञान था। चार - पाँच सालों में उन्होंने फैक्टरी बैठा ली। नफा होने लगा। बनिये ने जब देखा कि नफा होने लगा है तब छोटी - छोटी बात पर उन्हें छेड़ने लगा! क्षत्रिय का स्वभाव गुस्से का है। बनिया छेड़े तो वे गुस्सा हो जायें। रोज़ - रोज़ ऐसा होने लगा। एक दिन सेठ जी ने कहा कि, 'तुम रोज़ - रोज़ गुस्सा करते हो! या तो तुम फैक्टरी खरीद लो या अपना हिस्सा लेकर चले जाओं।' उनकी तो बुद्धि ही थी, रुपया तो था नहीं कि खरीद लेवें। सेठ ने थोड़ा - बहुत रुपया देकर उन्हें विदा कर दिया। हमने कहा कि, 'हमने तुमसे पहले ही कहा था। तुमसे सहन होगा नहीं और बनिया जानता है कि कब क्या करना है।' इसी प्रकार भगवान् ने कहा, 'मिथ्यैष व्यवसायः।' व्यापार का सूत्र क्या है? सब कुछ सहन करते चले जाओ, यह व्यापार का सूत्र है। क्षत्रिय से यह हो नहीं सकता। ग्राहक चाहे जितनी गलत बात कह देवे, हमेशा कह दो, 'हाँ जी!' क्षत्रिय से थोड़ी ग़लत बात सहन हो जाती है, ज्यादा सहन नहीं होती। आगरे में एक हमारे भक्त हैं, व्यापारी हैं। कहते हैं, 'कोई ग्राहक आकर हमें सौ गालियाँ देवे तो हम उन्हें रूमाल में बाँध लेते हैं और नाली में फेंक देते हैं! उसका कोई असर नहीं होता हम पर। अगले दिन फिर वह ग्राहक आता है तो हम हँसकर बात करते हैं।'

जब 'रुचि' नीति के विरुद्ध मन के अनुसार कार्य करने लगे तब भगवान् ने जो कहा उसे याद कर लो 'मिथ्यैष व्यवसायस्ते।' निश्चय मिथ्या है। तुम उस पर टिक सकते नहीं, क्योंकि तुम्हारी वह प्रकृति नहीं। स्वभाव तुम्हारा प्रकट हो ही जायेगा। संसार के व्यवहार के अन्दर नफा - नुक़सान तो मामूली है। उसमें अगर तुमने कुछ ग़लत किया भी तो थोड़ा बहुत नुकसान होगा, दो चार - साल

की बात है। परन्तु परमार्थ मार्ग में यदि तुमने नुकसान कर लिया तो पता नहीं फिर कब मनुष्य जन्म की प्राप्ति होगी! हम यह भूल जाते हैं कि मनुष्य जीवन कितना दुर्लभ है। यहीं परमात्मा को पाया जा सकता है। बाकी चीजें तो कहीं भी मिल जायेंगी। इसलिए परमार्थ मार्ग पर चलने वाले को यह ध्यान देना चाहिए कि हमारे लिए जो ठीक रास्ता है, उसी रास्ते पर चलना चाहिए। इसलिए 'रुचीनां वैचित्र्याद्' का मतलब यह नहीं है कि जिसे जो अच्छा लगे, वह करे।।७।।

श्लोक–८

भगवदाज्ञा का अनुसरण न करना हितकार हो सकता है ऐसा भ्रम क्यों होता है? क्योंकि भगवान् को हम सही–सही समझ नहीं पाते। भगवान् के विलक्षण रूप का वर्णन करते हैं–

महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद ! तन्त्रोपकरणम्।
सुरास्तां तामृद्धिं विदधति भवद्भ्रूप्रणिहितां
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।।८।।

(पदच्छेदः)

महोक्षः खट्वांगम् परशुः अजिनम् भस्म फणिनः
कपालं च इति इयत् तव वरद ! तन्त्रोपकरणम्।
सुराः ताम् ताम् ऋद्धिम् विदधति भवद्भ्रूप्रणिहिताम्
न हि स्वात्मारामम् विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।।

(सान्वयार्थः)

वरद ! = हे श्रेष्ठ मोक्ष को देने वाले! **तव** = आपके **तन्त्रोपकरणम्** = घर की सम्पत्ति **महोक्षः** = एक बूढ़ा बैल, **खट्वांगम्** = खाट का एक पाया, **परशुः** = एक फरसा, **अजिनम्** = एक गजचर्म, **भस्म** = राख, **फणिनः** = कुछ काले जहरीले साँप, **च** = और **कपालम्** = एक नरमुण्ड **इति** = बस **इयत्** = ये (सात ही हैं।) **तु** = फिर भी **सुराः** = अन्य सारे देवता **भवद्भ्रू-प्रणिहिताम्** = आपके कृपाकटाक्ष से दी हुई **ताम्** = उन

ताम् = प्रसिद्ध **ऋद्धिम्** = सम्पत्तियों (सुदर्शनचक्र, ऐरावत, कल्पवृक्षादि) को **विदधति** = धारण करते हैं (अर्थात् भोगते हैं), **हि** = क्योंकि **विषयमृगतृष्णा** = विषयसुखों की मृगतृष्णा का जल, **स्वात्मारामम्** = चिदानन्दघन स्वरूप में रहने वाले को **न भ्रमयति** = भ्रम में नहीं डाल सकता।

(भगवान् शंकर की यही विशेषता है कि बाहर से सम्पत्तिहीन होते हुए भी सर्वसम्पत्तियों के दाता हैं, अतः भोगमोक्षार्थी दोनों को ही उनकी उपासना कर्तव्य है।)

इन्द्र, वरुणादि सब देवता जिन ऋद्धियों को बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं, धारण करते हैं वह आप के कृपाकटाक्ष से प्राप्त होने वाली ही हैं। बड़े-बड़े देवताओं को जो ऐश्वर्य, ऋद्धि प्राप्त है वह आपके द्वारा ही दी गई है। अतः आप सर्वैश्वर्यप्रदाता हैं। परन्तु आप दीखते ऐसे हैं कि आप कुछ नहीं दे सकते!

अपने लिए भगवान् ने क्या रखा है? 'महोक्षः' बुड्ढे बैल को रखा है। लगता है कि इनके पास चलने के लिये अच्छी सवारी नहीं है अन्यथा घोड़ा-हाथी रखते जैसे इन्द्र के पास हाथी है। महादेव के पास बुड्ढा बैल है जो किसी काम का नहीं है। बहुत से लोग बढ़िया सवारी नहीं रखते पर उनके घर जाओ तो बढ़िया फर्नीचर होता है, बढ़िया बिछौना सोफा आदि होता है। लेकिन शिवजी के पास 'खट्वाङ्गं' खाट का एक पाया है! पूरी खाट भी नहीं। हथियार क्या है? 'खण्ड-परशुः' एक टूटा हुआ फरसा है। जिससे चाहें तो लकड़ी काटकर ले आयें, अग्नि जलाने के लिए, भोजन बनाने के लिए। शायद कपड़े बढ़िया होंगे? वे भी नहीं 'अजिनम्'। हाथी की छाल पहनते हैं! आजकल तरह-तरह के चमड़े के कपड़ों को पहनते हैं, लेकिन हाथी के चमड़े का कपड़ा कोई नहीं पहनता, निर्यात भी नहीं होता। साँप का चमड़ा तो काम आता है, पर हाथी का नहीं आता। बस हाथी की छाल ही शिव का वस्त्र है। यह भी कोई कीमती चीज़ नहीं। शायद शृंगार के साधन बढ़िया हों? पर उसके लिए भी केवल भस्मी है। वह भी कहाँ की भस्मी? चिताभस्म। शायद गहने रखे हों? 'फणिनः' गहने भी हैं तो साँप! उसी को कभी भुजापर बाँध लिया तो बाजूबंद हो गया, कभी हाथ

में पहन लिया तो कंगन हो गया, गले में डाल दिया तो हार हो गया। ऐसी बात नहीं है कि चीज़ें नहीं हैं, चीजें सब हैं! और कुछ होगा? तो कहा 'इति।' बस इतनी ही चीजें हैं उनके पास। 'तव तन्त्रोपकरणम्।' महादेव के पास इतना ही साज-सामान है। इसलिए लोगों को भ्रम हो जाता है कि 'ये क्या दे सकते हैं!' परन्तु सभी देवताओं को समृद्धि देने वाले आप ही हैं।

शंका होगी कि सबको देते हैं तो अपने पास कुछ क्यों नहीं रखते? सूत्ररूप में समाधान बतला दिया 'स्वात्मारामं' जो अपनी आत्मा में रमण करने वाला है, परमानन्द में रमण करने वाला है, उसे विषयों की मृगतृष्णा नहीं होती। विषय मृगतृष्णा हैं। लोग कहते हैं कि 'आप जो कहते हैं वह ठीक है, पर काम चलाने के लिए विषय चाहिए तो ज़रूर।' यह वैसी ही बात है जैसे कोई कहे, 'बात ठीक है कि रेगिस्तान है पर मृगतृष्णा से पानी तो लाना ही होगा!' चाहे जितनी कोशिश करो पानी मिलना ही नहीं। जो आत्मा में रमण करने वाला है उसे विषयों की मृगतृष्णा नहीं रहती है। सांसारिक विषयों से, सांसारिक समृद्धि से कुछ हो सकता है यह उसे नहीं लगता। बंगाल में एक महात्मा हुए हैं रामकृष्ण परमहंस। एक बार उनके भतीजे हृदय ने उनसे कहा, 'अपने घर में बड़ी तकलीफें हैं, आपके पास बड़ी सिद्धियाँ हैं। कुछ कृपा कर दें तो घर में खुशहाली हो जाए।' उन्होंने कहा, 'अरे हृदय! यदि संसार सत्य होता तो मेरे पास इतनी सिद्धियाँ हैं कि मैं पूरे कामारपुकुर गाँव को (उनके गाँव का यह नाम था) सोने से मढ़ देता! पर यह संसार सच्चा है नहीं, तो क्या किया जाए।' अतः विषय मृगतृष्णा स्वात्माराम को भ्रम में नहीं डालती।

भगवान् के पास जो सामान है वह वस्तुतः क्या है? 'महोक्षः।' 'धर्मो वृषभ उच्यते।' शास्त्र में बतलाया है कि जो उनका वृषभ है वह धर्म ही है। धर्म के ऊपर ही वे चढ़ते हैं, धर्म पर ही चलते हैं। 'महोक्षः' बुड्ढा है, सनातन है, हमेशा रहने वाला है। बहुत साल पहले हमें एक पत्र आया कि, 'महाराज अब जेट जहाज का जमाना आ गया है, आप लोग बहुत पुरानी बातें करते हैं, कुछ नवीनता होनी चाहिए।' हमने कहा, जितनी भी नवीन चीजें हैं उनके द्वारा तुम रास्ते में चलकर देख लो। हमारी बैलगाड़ी तो टूटी हुई है। तुम्हीं जेट इंजन से

परमात्मा के पास पहुँच जाओ। हमें भी प्रसन्नता होगी। और अगर सारी कोशिश से भी पहुँच न पाओ तो हमारी गाड़ी तब भी चलती मिलेगी, आ कर चढ़ जाना। यह मार्ग पुराना है, बुड्ढा सनातन बैल है, पर है यह सच्चा। परमेश्वर इस सनातनधर्म रूप बैल पर ही मिलते हैं। 'खट्वाङ्गं' खाट के चार पाये होते हैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इसी पर जीव रहता है, सोता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पायों वाली खटिया में से एक मोक्ष का पाया भगवान् ने अपने पास रखा है। काम और अर्थ देने वाले तो बहुत से देवादि उन्होंने बनाये, परन्तु मोक्ष सिवाय शिवकृपा के होनेवाला नहीं है। 'ज्ञानमिच्छेद् महेश्वरात्' जिस ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति होती है, उसको देनेवाले महेश्वर ही हैं। इसलिए उपनिषद् में बताया, 'रुद्र यत्ते दक्षिणमुखं तेन मां पाहि नित्यम्।' 'हे रुद्र! जो आपका दक्षिण मुख है, दक्षिणामूर्ति है, उससे आप मेरा कल्याण करें।'

नित्य और अनित्य का विवेक करने वाला परशु है, वह दोनों को अलग कर देता है। और उनके पास क्या है? अजिन, हाथी का चमड़ा है। गजचर्म, जो सबके लिए व्यर्थ है। सबके लिए सर्वथा व्यर्थ क्या है? सारा यह नामरूपप्रपञ्च, जिससे कुछ मिलता नहीं। बस इसी से वे ढके हुए हैं। वस्त्र से मनुष्य का शरीर ढका रहता है, तो वह दीखता नहीं है। नामरूपात्मक संसार जो गजचर्म है, उसी से ये ढके हुए हैं। यही उनका वस्त्र है।

उनका शृंगार क्या है? भस्म। जब इस नामरूप का बाध कर दिया जाता है तब भस्म बनता है। गीता में भगवान् ने कहा, 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरते' जिसके द्वारा सब चीज़ों का बाध हो जाता है, सब चीजें भस्म हो जाती है, वही ज्ञान उनका भूषण है। और वह भी भस्म कहाँ का है? 'चिताभस्म' तुम्हारी सबसे नज़दीकी चीज है शरीर, उसका भी जब बाध हो जाए वह भस्म है। और बहुत-सी चीज़ों को आदमी छोड़ देता है पर सबसे ज़्यादा आसक्ति शरीर से है। ऐसा भस्म हो गया शृंगार का प्रसाधन। आभूषण क्या है? सर्प। जैसे सर्प चंचल है वैसे ही मन भी चंचल है। मन जब परमात्मा को विषय करता है तब उनका आभूषण बन जाता है। जब तक मन संसार के पदार्थों में रहता है तब तक तुम्हारे दुःख का कारण है। इसलिए आचार्य शंकर कहते हैं, 'मनस्ते

पादाब्जे निवसतु।' मन आपके चरणों में हमेशा रहे। निरन्तर परमात्माकार वृत्ति जिस मन की बने, वह मन परमेश्वर का गहना है। मन ही सारे दुःखों की जड़ है और वही मन जब परमेश्वर को विषय करता है तब उनका आभूषण बन जाता है।

एक वैद्यजी कहीं यात्रा पर गये थे, एक धर्मशाला में ठहरे थे। उनके पास के कमरे में कोई सेठ ठहरे थे। सर्दी के दिन थे। सेठजी ने अपनी पत्नी से कहा, 'दही जम गया हो तो लाओ, दही खायेंगे।' रात का समय था। वैद्य ने सेठ की बात सुनी तो अपनी पत्नी से कहा, 'तेरे लिए एक सोने का कड़ा बनवा दूँगा।' तब तक सेठजी की पत्नी ने कहा, 'दही तो ला रही हूँ पर चीनी मिलाकर खाइयेगा या नमक?' यह सुनते ही वैद्यजीने कहा, 'गया तेरा कड़ा।' वैद्य की पत्नी ने पूछा, 'क्या हुआ?' वैद्यजी ने कहा, 'मैंने सोचा कि दही खायेगा, बीमार पड़ेगा, मेरे पास आयेगा। उससे मैं तेरे लिए एक सोने का कंगन बनवा देता। पर उसने चीनी के साथ दही खा लिया। अब कुछ नहीं होगा।'

जिस प्रकार दही नुकसान भी करता है और शर्करायुक्त दही नुकसान नहीं भी करता है, उसी प्रकार तुम्हारा मन जब संसार को विषय करता है तब तक दुःख ही दुःख है और वही मन जब परमात्मा को विषय करता है तब आनन्द ही आनन्द हो जाता है।

परमात्मा खाते किसमें हैं? 'कपालम्' हमारी ज्ञानेन्द्रियों का प्रधान केन्द्र कपाल ही है। आँखें भी इसी में हैं, कान भी इसी में है, रसनेन्द्रिय भी इसी में है। सबसे ज्यादा स्पर्श का पता चलता है गालों पर, कपोल भी कपाल में ही हैं। हम शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का ज्ञान करते हैं। परमेश्वर हमारे ज्ञान का ज्ञान करता है, इसलिए वह साक्षी है। हम विषयों को जानते हैं और हमें शिव जानते हैं, भगवान् शंकर ही ग्रहण करते हैं।

ये सारी चीजें भगवान् की सामग्री हो गयीं, इनसे ही भगवान् शंकर का सम्बन्ध है। यद्यपि उन्होंने अपने लिए इतनी ही चीजें रखी हैं तथापि देवताओं की सारी समृद्धि है भगवान् के ही कृपाकटाक्ष से। तुम्हारे शरीर में इन्द्रियाँ मन

इत्यादि अध्यात्म देवताओं की जितनी सामर्थ्य है- जैसे तुम्हारी आँखें देखती हैं- वह सामर्थ्य किससे है? तुम जितने कर्म करते हो, उनके लिए प्राणों को, कर्मेन्द्रियों को सामर्थ्य देने वाला कौन है? वही तो है। तुम जितने कार्य अपनी इन्द्रियों और मन द्वारा कर रहे हो, उन्हें करने की शक्ति वही तो दे रहा है। परन्तु अपने लिए उन्होंने यही रखा है क्योंकि मोक्ष के मार्ग में ये ही अपेक्षित हैं। उनका स्वरूप जो समझ लेता है वह उन्हीं की तरह स्वात्माराम हो जाता है। गीता में भगवान् ने कहा,

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।'

जिसे आत्मा में ही रति है, आत्मा में ही तुष्टि है, आत्मा में ही तृप्ति है उसके लिए यह संसार व्यर्थ हो जाता है। 'तस्य कार्यं न विद्यते।' उसे अपने लिए करने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता है। स्वात्माराम हो जाता है।।८।।

श्लोक-९

परमेश्वर के बाह्य रूप को देखकर जो भ्रम होते हैं, उन भ्रमों के रूप को बताते हैं-

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन ! तैर्विस्मित इव
स्तुवञ्जिहेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता।।६।।

(पदच्छेदः)

ध्रुवम् कश्चित् सर्वम् सकलम् अपरः तु अध्रुवम् इदम्
परः ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्ते अपि एतस्मिन् पुरमथन ! तैः विस्मितः इव
स्तुवन् जिहेमि त्वाम् न खलु ननु धृष्टा मुखरता।।

(सान्वयार्थः)

पुरमथन ! = हे स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह को नष्ट करके आत्मस्वरूप

में स्थित करने वाले ! **कश्चित्** = कोई (सांख्य, सत्कार्यवादी) **सर्वम्** =स्थूल–सूक्ष्म सारे संसार को **ध्रुवम्** = उत्पत्ति–नाश से रहित (**गदति** = कहता है।) **तु** = तो **अपरः** = दूसरा (बौद्धनास्तिकादि असत्कार्यवादी) **इदम्** = इन **सकलम्** = जड चेतन समेत सारे पदार्थों को, **अध्रुवम्** = नाश वाला (क्षणिक), (**गदति** = कहता है।) **अपि** = और **परः** = इन दोनों से अलग मतवाला (नैयायिक आरम्भवादी) **एतस्मिन्** = इस **समस्ते** = सारे **जगति** = विश्व में **ध्रौव्याध्रौव्ये** = विनाशी और अविनाशी **व्यस्तविषये** = पदार्थ बँटे हुए हैं **गदति** = ऐसा कहता है। **ननु** = तो **मुखरता** = उन वादियों की वाचालता **धृष्टा** = निर्लज्ज है। **तैः** = उन वादियों की उक्तियों से **विस्मितः** = अचंभित **इव** = सा (होकर भी) **त्वाम्** = आपकी **स्तुवन्** = स्तुति करने में **खलु** = अवश्य ही (विवर्तवादी वैदिक मत का अनुसरण करने के कारण) **न जिहेमि** = मैं लज्जित नहीं होता।

कोई संसार के विषय में कहता है, 'सर्वंध्रुवम्।' सब चीजें हमेशा रहती हैं। सृष्टि के विषय में विचार करने वाले कुछ लोग परिणामवादी हैं। परिणामवादियों का कहना है कि यह सृष्टि हमेशा ऐसी ही रहती है। चीजों का रूप बदलता है, पर चीजें जो हैं वे ही रहती हैं। जैसे सोने से तुम कितने ही गहने बनवा सकते हो पर सोना तो सोना ही रहता है। ऐसे ही सब चीजें वही रहती हैं केवल रूप बदलते हैं यह परिणामवादियों का कहना है।

'अपरः' दूसरे कहते हैं 'इदम् अध्रुवम्।' बहुत–से नास्तिकवादियों का कहना है कि सब कुछ अध्रुव है, कुछ भी रहनेवाला नहीं है। बुद्ध को जब ज्ञान हुआ तब तीन बातों का पता चला : 'सर्वं दुःखं दुःखं, सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्।' बौद्धों में भी अनेक सिद्धान्त हैं पर ये तीन बातें सबको मान्य हैं, क्योंकि ये ही तीन बुद्ध का आधारभूत दर्शन है। 'सर्वं दुःखं दुःखं' संसार में सब कुछ दुःख ही दुःख है। 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं' संसार मे सब चीजें क्षण में नष्ट होने वाली हैं। अतः उनका कहना है कि सब चीजें अध्रुव हैं, क्षणिक हैं, कोई भी वस्तु रहने वाली नहीं है। जो लोग कहते हैं कि सब चीजें बनी रहेंगी वे हैं परिणामवादी। अध्रुववादी कहते हैं कि पदार्थ क्षणभर में होता है फिर खत्म हो जाता है।

गौतम महर्षि आदि के अनुयायी आरम्भवादी हैं। वे कहते हैं 'परोधौव्याऽधौव्ये' कि कुछ रहता है, कुछ बदलता है। परमाणु तो ध्रुव हैं, पर परमाणु से उत्पन्न होनेवाली चीजें अध्रुव हैं। घड़ा मिट्टी के परमाणुओं से बना है। घड़ा तो नष्ट हो जायेगा पर मिट्टी के परमाणु वही रहेंगे। आरम्भवादी कहते हैं कि कुछ चीजें ध्रुव हैं, नित्य हैं और वे लोग अध्रुव चीजों को पैदा होने वाला मानते हैं। ये तीन सिद्धान्त हैं- परिणामवाद, क्षणिकवाद और आरम्भवाद।

'जगति' जगत् के बारे में 'गदति' लोग इन बातों को कहते हैं पर व्यस्त अर्थात् एक-एक चीज़ को दृष्टान्त बनाकर अतिदेश करते हैं। दूध से दही बनता है, तिल से तेल निकलता है, इसलिए कारण में कार्य पहले से मौजूद है। असद्वादी कहता है बीज नष्ट हो जाता है तब अंकुर पैदा होता है अतः कारण के नाश से कार्य पैदा होता है। तीसरा कहता है कि मिट्टी के परमाणु हैं तब आगे नया घड़ा पैदा होता है। यों ये एक-एक दृष्टान्त लेते हैं और उन्हें सब पदार्थों पर घटाते जाते हैं। एक दृष्टान्त में तो कोई बात ठीक हो जायेगी, उसके जैसी जो चीज़ होगी उसमें भी बैठ जायेगी, पर सर्वत्र नहीं घटती।

'एतस्मिन् समस्ते' हम तो सारे संसार को देखते हैं। परीक्षा करते हैं कि किस में कौन-सी बात ठीक है, किस में ठीक नहीं है। इसलिए ये वादी जब जबरदस्ती एक ही नियम सब जगह लगाते हैं तब 'तैर्विस्मितः' हमें तो विस्मय होता है, आश्चर्य होता है कि कणाद महर्षि, कपिल महर्षि आदि इतने बड़े विद्वान् होकर कैसे एक ही दृष्टांत को सब जगह घटाने की कोशिश कर रहे हैं! मैं इन भूलों से भ्रम में नहीं पड़ता क्योंकि मैं तो वैदिक सिद्धान्त को मानने के कारण विवर्तवादी हूँ। बिना बदले ही सब चीजें बदलती हुई प्रतीत होती हैं- यह विवर्तवाद है। परमात्मा बिना बदले हुए, वैसा ही रहते हुए, अपनी माया शक्ति से सब दिखा देता है। इसलिए पहले कह दिया था, 'अतर्क्यैश्वर्ये'। ये लोग तो तर्क से चलते हैं कि अन्य नहीं परिणामवाद ही हो सकता है, या आरम्भवाद ही हो सकता है, या असद्वाद ही हो सकता है। पर जो मैं कहता हूँ वह तर्क के आधार पर नहीं। वह परमशिव कभी कुछ, कभी कुछ अपनी मायाशक्ति से दिखाता रहता है। यह वेदोक्त रहस्य है। वेदानुसार होने से मैं इन भ्रमों में नहीं

पड़ता।

मैं आपकी स्तुति करते हुए 'न जिहेमि' लज्जा नहीं करता, क्योंकि मैं व्यस्त विषय को न पकड़ कर समस्त विषय को पकड़ता हूँ। इसलिए मैं जो आपकी स्तुति करने जा रहा हूँ वह 'मुखरता न धृष्टा ननु' धृष्टपना नहीं है क्योंकि मैं यह घोषणा नहीं करता कि मैंने आपको समझ लिया; ऐसी धृष्टता मैं नहीं करता। ये वादी तो कहते हैं कि हमने आपको समझ लिया पर ऐसी धृष्टता मैं नहीं करता। मैं आपके ऐश्वर्य को अतर्क्य मानकर, आपकी मायाशक्ति-प्रयुक्त विवर्तवाद को स्वीकार करता हूँ।

अत: जैसे अन्य लोगों की मुखरता धृष्ट है, वैसी मेरी मुखरता धृष्ट नहीं है। वेदान्ती हमेशा सारी चीजों का मूल कारण अज्ञान को मानते हैं। जब हम कहते हैं कि 'इसका कारण अज्ञान है' तब आगे तुम यह नहीं पूछ सकते कि, 'तुम्हें क्यों ज्ञान नहीं है?' हम तो कहते हैं कि सब चीजों का कारण अज्ञान है। परमात्मा क्या है कैसा है- इस बात का हमें अज्ञान है। वेदान्ती सारे जगत् का कारण अज्ञान को मानता है इसलिए उसे कोई यह दोष नहीं दे सकता कि वह नहीं जानता। वह तो पहले ही कहते हैं कि 'हम नहीं जानते। परमात्मा है, उसकी जो मर्जी वह करेगा। वही जानें, हमें क्या पता!' दस-ग्यारह श्लोकों तक भगवान् की लीलाओं का वर्णन है। हमसे मत पूछना कि भगवान् ने यह लीला क्यों की, कैसे की? मेरी जो मुखरता है वह धृष्ट नहीं है क्योंकि मैं विवर्तवाद स्वीकार करता हूँ। जो कहते हैं कि 'हम तो समझकर छोड़ेंगे' वह उनकी धृष्टता है, क्योंकि वे समझ तो पाते नहीं।।६।।

श्लोक-१०

परमात्मा केवल अपनी मायाशक्ति से ही सृष्टि करता है अत: विवर्तवाद ही स्वीकर्त्तव्य है। आरम्भवाद, परिणामवाद, असद्वाद आदि को स्वीकार नहीं करना है। जिस माया से वे सृष्टि करते हैं उसी से उनकी लीलायें होती हैं। आगे तेरह श्लोकों के द्वारा तेरह प्रकार की लीलाओं का वर्णन आयेगा।

दो बातें इन लीलाओं के बारे में याद रखना : परमेश्वर की दो शक्तियाँ

हैं - एक तिरोधान शक्ति, दूसरी निग्रहानुग्रह शक्ति है। तिरोधान शक्ति के द्वारा वह अपने को हमेशा तिरोहित रखता है अर्थात् छिपाकर रखता है। 'तिरस्' अर्थात् तिरछा। किसी चीज को तिरछे आहित कर दिया जाये, रख दिया जाये, तो उसे कहेंगे तिरोहित। परमेश्वर, हमसे कभी दूर नहीं जाता, जा सकता ही नहीं है। वह हमसे दूर हो जाए तो सर्वव्यापक कैसे रहे? परन्तु हम सामने देखते हैं तो वह बगल में होता है इसलिए हम उसे नहीं देखते। उसने अपने को तिरछे रख दिया है पर है नज़दीक ही। यही उसकी तिरोधान शक्ति है। सामने क्या है? अपने से भिन्न जो अनात्मा है, वह सामने है। हम रात-दिन अनात्म-पदार्थों को देखते हैं, अनात्म-पदार्थों का विचार करते हैं, अनात्म-पदार्थों का चिन्तन करते हैं, परन्तु जो अपने अत्यन्त सन्निहित है उसका विचार करने की फुर्सत नहीं है! उस तरफ ध्यान नहीं है। इसका क्या होगा, उसका क्या होगा, उस काम का क्या होगा, इस काम का क्या होगा, मेरे शरीर का क्या होगा, मेरी इन्द्रियों का क्या होगा, मेरे प्राण का क्या होगा, मेरे मन का क्या होगा? सबको सोचते हो। आगे खुद मेरा क्या होगा? - यह नहीं सोचते हो, सोचने की फुर्सत ही नहीं है। इन चीज़ों से इतना एक हो गये कि लगता है इनके सिवाय मैं कुछ हूँ ही नहीं। इन्हीं को हम सब कुछ समझ लेते हैं। चूँकि हम सामने सब देख रहे हैं इसीलिये बगल में बैठा हुआ चेतन तत्त्व शिव, हमारे लिए तिरोहित है। स्वयं को तिरोहित वह कैसे करता है? वह तुम्हारे सामने सुन्दर-सुन्दर रमणीय चीजों को उपस्थित कर देता है। ऐसा नहीं है कि तुम उसे देख नहीं सकते। पर तुम उन रमणीय चीजों को देखने में इतने तल्लीन हो जाते हो कि उसकी तरफ देखते ही नहीं।

एक राजा था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। उसने सोचा कि किसी योग्य आदमी को देखकर राजा बनाऊँ। परीक्षा करने के लिए उसने कह दिया कि, 'अमुक दिन शाम तक जो मेरे पास आयेगा, उनमें से मैं छँटाई करके चुनूँगा कि यहाँ का कौन राजा बने।' बहुत से लोग हो गये तैयार। कौन नहीं होगा तैयार राजा बनने के लिए! उसने जो जगह रखी थी छँटाई के लिए, वह बगीचे के भीतर थी। लोग जहाँ से बगीचे में घुसें वहाँ चारों तरफ कहीं चाट की दुकान लगवा दी, कहीं मिठाई की दुकान है। तरह-तरह की खाद्य सामग्रियों की

बढ़िया-बढ़िया दुकानें लगवायीं। और सब जगह लिख दिया 'आप राजा बनने जा रहे हैं अतः राजाजी की तरफ से आपको जितना मर्जी उतना मुफ्त में खिलाया जायेगा।' राजा से मिलने का समय शाम का था, पर लोग वहाँ सबेरे ही पहुँच गये थे। सोचने लगे अभी बहुत समय है, खा लेते हैं। खाने में लग गये। खा-पीकर वहाँ से चले तो बढ़िया से बढ़िया कपड़े चारों तरफ फैले देखे। वहाँ भी लिखा था 'आप लोग राजा बनने जा रहे हैं, अतः जो कपड़े चाहिए, वे सब कपड़े आपको राजाजी की तरफ से मुफ्त दिये जायेंगे।' कुछ लोगों ने सोचा कि बढ़िया सूट सिलवा लेवें, राजा के पास जायेंगे तो राजा हमें बड़ा प्रभाव वाला मानेगा। वे कपड़ों में उलझ गये। वहाँ से चले, बढ़िया-बढ़िया गहने थे, वहाँ पर सूची भी लगी हुई थी कि 'अमुक नगीनें को पहनोगे तो अमुक दोष नहीं होगा और राजा तुम्हें स्वीकार कर लेगा। तुम्हारी अमुक राशि है तो अमुक नगीना लो।' कुछ उसमें उलझ गये। यों सब का सारा दिन बीत गया, तब तक घोषणा हो गयी कि, 'समय पूरा हो गया है, सब बगीचे से अपने घरों को लौट जायें।' किसी ने घड़ी देखी नहीं थी! कहने लगे, 'हमें पाँच मिनट तो दो।' पर पहरेदारों ने कहा कि कुछ समय नहीं मिलेगा। सब में एक आदमी आया था सुबह ही। उसने न खाने को देखा, न पीने को। उसने सोचा कि राज्य मिल गया तो बाकी सब चीजें मिल ही जायेंगी। वह सीधा सवेरे ही दस बजे राजा जी के पास पहुँच गया था। काफी लम्बा था बगीचा। राजा ने उसे देखा, सुना, समझा और कहा कि यही व्यक्ति राज्य के लायक़ है। उसे बैठा दिया, सोचा कि और कोई आवे तो चुनाव करें लेकिन और कोई नहीं आया। वही व्यक्ति राजा बन गया।

इसी प्रकार से बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है, 'आरामम् अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।' इस परमात्मा के बगीचे को सब देखते हैं, 'कितनी बढ़िया भगवान् ने खाने की चीजें बनायीं, कितनी बढ़िया पहनने की'- इन सबको देखते हैं और इन्हें ही बटोरने में लगे रहते हैं। मनुष्य जन्म की प्राप्ति तो हुई थी परमात्मा को प्राप्त करने के लिये। वेद कहता है, 'अमृतस्य पुत्राः' तुम उस परब्रह्म परमात्मा के, अमृत के पुत्र हो। तुम इस संसार के अधिपति हो, साक्षात् परमेश्वर के पुत्र हो। परन्तु तुम्हें यह हक मिले, इसके लिए तुम्हें परमात्मा के पास जाना होगा। मनुष्य जन्म तो इसीलिए मिला कि तुम परमात्मा से मिलो और

सारे संसार में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् बन जाओ। लेकिन यहाँ आकर हम क्या समझते हैं? अरे भाई! मनुष्य जन्म मिला है, उसको ठीक रखना चाहिए। पशु-पक्षी बेचारे कन्द-मूल खाते हैं, हम लोग तो बढ़िया मैसूरपाक खाते हैं। यही मनुष्य जीवन की सफलता है। पशु बेचारे ऐसे ही ठण्ड में रहते हैं। हम लोग, देखो! कैसे बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनते हैं। मनुष्य जीवन में आये हो तो उन्नति करो, समय बर्बाद मत करो। इस प्रकार से दुनिया की चीज़ों में फँसे रहते हैं। जब यहाँ से जाने का आदेश मिलता है तब सोचते हैं 'अरे! आगे के लिए तो हमने कुछ किया ही नहीं!' यमराज से कहते हैं, 'अरे! थोड़ा समय दे दो।' यमराज कहते है, 'घंटी बज गयी सो बज गई, अब कुछ हो नहीं सकता।' जो बुद्धिमान् मनुष्य है, वह जीवन के प्रारम्भ में ही निश्चय कर लेता है कि सब चीज़ें व्यर्थ हैं। पहले परमात्मा को प्राप्त कर लें, ये सब चीज़ें तो बाद में देखी जायेंगी। वह तो सीधा जाता है और परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

परमेश्वर की तिरोधान शक्ति यह है कि वह तुम्हारे सामने इतनी सुन्दर चीजें लाता है कि तुम उसको देख नहीं सकते।

दूसरी है उसकी निग्रहानुग्रह शक्ति। अपराधी को दण्ड देते हैं निग्रह शक्ति से और अनुग्रह शक्ति से कृपा करते हैं। आप लोग 'शिवताण्डवस्तोत्र' का पाठ करते हैं। उसमें एक जगह रावण ने उनकी अनेक निग्रह शक्तियों का उल्लेख किया है। 'गजच्छिदं', 'भवच्छिदं', 'अन्तकच्छिदं', किस-किस को दण्ड दिया उन्हें गिना है। यहाँ आचार्य पुष्पदन्त ज्यादातर उनकी अनुग्रह शक्तियों का वर्णन करते हैं। तिरोधान का भी वर्णन है। ज्यादातर यहाँ अनुग्रह शक्तियों का ही क्यों वर्णन है? पुष्पदन्त ने यह स्तुति अनुग्रह प्राप्त करने के लिए ही की थी।

पुष्पदन्त एक राजा के बगीचे में अदृश्य होकर जाकर बढ़िया-बढ़िया फूल चुन लेते थे और लाकर शिव का पूजन कर देते थे। राजा ने सोचा कि बढ़िया-बढ़िया फूल न जाने कहाँ चले जाते हैं, क्या बात है! चौकीदारों को डाँटा। चौकीदारों से कहा, 'रात का चौकीदार लगा दो और ध्यान दिया करो।' पुष्पदन्त छिपकर आते थे, उनमें ऐसी शक्ति थी कि कोई उनको देख न सके।

चौकीदारों ने रात को सब तरफ से किले-बन्दी करके देख ली पर फूल फिर भी निकल गये। चौकीदारों ने राजा से कहा, 'राजन्! हमने तो पूरा प्रयत्न किया, पर पता नहीं चलता कि कैसे फूल चले जाते हैं!' राजा ने पुरोहित से विचार किया तो निश्चय हुआ कि कोई न कोई दैवी शक्ति से सम्पन्न आता होगा, फूल ले जाता होगा। उसका पता कैसे लगे?

भगवान् शंकर के ऊपर जो चढ़ा हुआ निर्माल्य है, बिल्व-पत्रादि हैं, उनको लांघना बड़ा दोष माना जाता है। राजाज्ञा से रास्ते पर, दरवाजे पर, दरवाजे के इधर-उधर शिव-निर्माल्य को बिखेर दिया। पुष्पदन्त सबेरे के समय आते थे, दिन उगने से पहले छिपकर जल्दी से जाना था तो रास्ते की तरफ देखा नहीं कि क्या पड़ा है। चाहे अपने को अन्तर्हित करके आये पर निर्माल्यलंघन तो हो गया! जैसे ही लंघन हुआ, उनकी अन्तर्धान की शक्ति चली गई। अन्तर्धान शक्ति जैसे ही गयी वे सोचने लगे, 'मेरी शक्ति कैसे गयी?' तो उन्हें समझ आया, 'जरूर मैंने भगवान् शंकर का अपराध किया होगा?' इधर-उधर देखा तो बिखरा निर्माल्य देखकर पता भी लग गया कि 'निर्माल्य का लंघन किया तभी मेरी शक्ति चली गई'। भगवान् शंकर का अपराध किया तो वे ही अनुग्रह करेंगे। अन्यथा राजा के लोग आयेंगे और दुर्गति करेंगे। तब उन्होंने इस स्तोत्र की रचना की। 'मुझ पर यह अनुग्रह करें कि मेरे दोष को निवृत्त करें।' इस स्तुति के फलस्वरूप उनके ऊपर भगवान् की कृपा हो गयी। अड़तीसवें श्लोक में वे कहेंगे-'कुसुमदशननामा' कुसुम कहते हैं पुष्प को। दशन कहते हैं दन्तको। पुष्पदन्त नामवाला गंधर्वराज था। 'स खलु निजमहिम्नो भ्रष्टः अस्य रोषात्' परमेश्वर के रोष से उसकी जो महिमा थी, अपने को अन्तर्हित करने की जो शक्ति थी, उससे वह भ्रष्ट हुआ। उससे निवृत्त होने के लिए उसने यह स्तोत्र बनाया और वह दोष निवृत्त हो गया। अतः यहाँ उसकी अनुग्रह की कामना होने से अनुग्रह शक्ति का ही प्रधान रूप से वर्णन है।

तेरह लीलाओं का यहाँ वर्णन आरंभ करते हैं।

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।

ततों भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश ! यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति।।१०।।

(पदच्छेदः)

तव ऐश्वर्यम् यत्नात् यत् उपरि विरिञ्चिः हरिः अधः
परिच्छेत्तुं यातौ अनलम् अनलस्कन्धवपुषः।
ततः भक्ति–श्रद्धा–भर–गुरु–गृणद्भ्याम् गिरिश ! यत्
स्वयम् तस्थे ताभ्याम् तव किम् अनुवृत्तिः न फलति।।

(सान्वयार्थः)

गिरिश ! = हे हिमालय पर्वत पर समाधिमग्न ! **तव** = आपकी **अनुवृत्तिः** = (कायिक, वाचिक, मानसिक) सेवा **किम्** = कौन सा **न फलति** = फल नहीं देता? (मोक्ष पर्यन्त सारे फल देती ही है।), **यत्** = क्योंकि **यत्** = जब **अनलस्कन्धवपुषः**[1] = तेजोमय लिंगाकार शरीर वाले **तव** = आपके **ऐश्वर्यम्** = मूर्तरूप की **परिच्छेत्तुम्** = सीमा का पता लगाने के लिये **यत्नात्** = बड़े ही प्रयत्न के साथ **उपरि** = ऊपर की तरफ **विरिञ्चिः** = भगवान् ब्रह्मा **अधः** = (और) नीचे की तरफ **हरिः** = भगवान् विष्णु **यातौ** = गये, **अनलम्** = (लेकिन दिव्य हजारों वर्षों तक प्रयास करने पर भी) पार नहीं पाया, **ततः** = तब (अन्त में थक कर) **भक्ति-श्रद्धा-भर-गुरु-गृणद्भ्याम्** = शरीर से सेवा रूप भक्ति और मन से सेवा रूप श्रद्धा से पूर्णतया युक्त होकर वाणी से स्तुति करने पर **ताभ्याम्** = उन दोनों के सामने **स्वयम्** = आप स्वतः **तस्थे** = प्रकट हो गये।

(१–एक बार भगवान् ब्रह्मा और भगवान् विष्णु में अपनी–अपनी महत्ता के बारे में विवाद हुआ। निर्णय करने के लिए भगवान् शंकर उनके सामने स्थूल तेजोमय लिंगाकार में प्रकट हो गये।)

इन श्लोकों की रचना की एक विशेषता है कि प्रत्येक श्लोक के अन्त में उस लीला का क्या तात्पर्य है यह साथ-साथ बता दिया है। अन्यथा कई बार लीलाओं का अर्थ हमारी समझ में नहीं आता। प्रथम लीला में इन्होंने कहा, 'तव अनुवृत्तिः किं न फलति!' यदि श्रद्धा भक्ति के साथ कोई आपकी शरण में जाता है, तो कौन-सा फल नहीं मिलता है, अर्थात् सारे फल मिल जाते हैं।

सृष्टि के आदि काल की यह लीला है। इस स्तोत्र के प्रथम श्लोक के संदर्भ में भी यह सुना चुके हैं, यहाँ मूलकार ने विस्तार से स्वयं वर्णन किया है। सृष्टि के आदि में भगवान् विष्णु प्रकट हुए और विष्णु की नाभि से ब्रह्माजी प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने चारों तरफ देखा तो कोई नज़र नहीं आया। ब्रह्माजी चारों तरफ ढूँढने लगे कि और कुछ है या नहीं। ढूँढते-ढूँढते विष्णु भगवान् के दर्शन हुए। उन्होंने विष्णु भगवान् से कहा, 'तुम कौन हो?' विष्णु भगवान् ने कहा, 'तुझे उत्पन्न करने वाला।' ब्रह्माजी तो सोच रहे थे कि, 'मैं ही आगे सब सृष्टि करूँगा क्योंकि दूसरा कोई और है नहीं, मैं ही अकेला हूँ।' विष्णु भगवान् ने कहा, 'तू अभी छोटा है, मैं तो तेरा बाप हूँ।' ब्रह्माजी ने पूछा, 'मैं तो इतनी बड़ी सृष्टि बनाने का कार्यक्रम बना रहा हूँ; तुमने क्या बनाया?' विष्णु ने कहा, 'तुझे बना दिया, और क्या!'

आजकल भी पिता पाँच-सौ रुपयों में नौकरी करते हैं, उसी से लड़कों को तैयार करते हैं। लड़का विलायत चला गया और लाख रुपये कमाने लग गया। लड़का मन में सोचता है और कहता भी है, 'पिताजी ने पाँच-सौ रुपयों में अपना जीवन बेकार कर दिया, कुछ नहीं किया। देखो, मैंने परिश्रम किया तो लाख रुपये कमा रहा हूँ!' वह यह सोचता नहीं कि मुझे पैदा और बड़ा किसने किया! यह नहीं सोचता कि 'अगर इन्होंने सही शिक्षित-प्रशिक्षित नहीं किया होता तो मैं लाख रुपया तो क्या एक धेला भी नहीं कमाता होता!' मनुष्य अपनी कृति-'मैंने क्या बनाया', इसकी तरफ तो बड़ी दृष्टि रखता है, पर मैं ऐसा करने के योग्य कैसे हुआ?- उसकी तरफ उसकी दृष्टि नहीं रहती। इसलिए परमेश्वर को भूला रहता है।

मैं देखता हूँ। आँखों में क्या चीज़ है जो देख रही है? किसने ये आँखें बनायीं जो देख रही हैं? हमने एक बहुत बढ़िया हीरे का नग लगाया है। मैंने कितना बड़ा कारीगर ढूँढा! उसने कितनी सुन्दर अंगूठी बनायी, कितना बढ़िया नग लगाया। इसकी तारीफ करते हैं। यह नहीं सोचते कि वह अंगुली किसने बनायी जिसमें तुम अंगूठी पहनते हो! कहते हैं कि वह तो अपने आप बन गयी! अंगूठी बनाने वाले की तारीफ है, बनवाने वाले की तारीफ है, पर पूछो अंगुली

किसने बनायी? तो कहते हैं, 'वह ऐसे ही बन गयी।' इसी प्रकार डाक्टर ने हमारे हृदय में कोई शल्य किया, बाईपास सर्जरी कर दी। दो-तीन नलियाँ आपके ही पैर से निकालकर ऊपर लगा दीं। लोग कहते हैं, 'क्या विज्ञान का चमत्कार है, क्या उन्नति है। क्या करु दिया!' पर वह हृदय किसने बनाया, वे नसें किसने बनायीं? तो कहते हैं, 'अपने आप बन गयीं।' मनुष्य का यह स्वभाव है कि मैंने जो किया, अपनी जो कृति है, उसकी तरफ तो महत्त्व की दृष्टि रहती है परन्तु इस कृतिका जो प्रधान कारण है, वह तिरोहित रहता है। यह उसकी तिरोधान शक्ति है कि उसे कोई नहीं देखता। उसे देखने की बात करते हैं तो कहते हैं कि उससे क्या होगा! यही ब्रह्मा और विष्णु का हाल था। उस ज़माने से ही यह सब चल रहा है।

ब्रह्माजी ने कहा, 'मेरा तो एक बड़ी दुनिया बनाने का कार्यक्रम है, तुमने एक मुझे बना दिया तो क्या हुआ! मेरी पूजा होनी चाहिए, मैंने इतना क़ाम किया है।' विष्णु भगवान् ने कहा, 'मैं तेरा बाप हूँ, बड़ा तो मैं ही हूँ।' दोनो में विवाद छिड़ गया तो भगवान् शंकर ने सोचा कि इनको लोकपाल बनना है, सृष्टि करनी है, ये आपस के ही झगड़े में फँस गये! उन्हें शिक्षा देने के उद्देश्य से शंकर जी ने एक लीला की : बड़ा भारी ज्योति का खम्भा उनके सामने आ गया। उस खम्भे को देखकर के दोनों आश्चर्य में पड़े। चारों तरफ तो अंधकार था उसमें यह ज्योति स्वरूप प्रकट हुआ। विष्णु भगवान् ने कहा, 'क्या तुमने बनाया इसे?' ब्रह्माजी ने कहा, 'नहीं, मैंने तो नहीं बनाया। आपने बनाया?' विष्णु भगवान् ने कहा, 'नहीं यह तो मेरी सृष्टि नहीं है।' दोनों ने तय किया कि इसके बारे में पता लगावें और इसके आदि-अन्त का जो पता लगा लेवे उसे बड़ा मान लिया जाए।

'तवैश्वर्यं यत्नात्', आपका जो वह ऐश्वर्य था, ज्योतिर्लिंग, उसकी सीमा का पता लगाने केलिये ब्रह्मा-विष्णु ने बहुत प्रयत्न किया। 'उपरि विरञ्चिः' ऊपर के छोर का पता लगाने तो ब्रह्माजी गये और 'हरिरधः' विष्णु भगवान् नीचे की तरफ गये। 'अनलस्कन्धवपुषः' अनल अर्थात् अग्नि का, स्कन्ध अर्थात् खम्भा, उस शरीरवाला जो आपका रूप था, 'परिच्छेत्तुं यातौ' उसकी सीमा को परिच्छेद को जानने के लिए दोनों देवता गये।

लेकिन चाहे जितने गये, 'अनलम्' उनका जाना पर्याप्त नहीं हो पाया! ऊपर गये तो भी पता नहीं लग पाया, नीचे गये तो भी पता नहीं लग पाया। जब दिव्य सहस्र वर्ष तक पता नहीं लग पाया तब उनके मनों में आया कि 'यह ज्योति वस्तुत: विलक्षण सामर्थ्य वाली कोई शक्ति है क्योंकि सारा संसार अन्ध-कारमय है, यही एक प्रकाशयुक्त है। इसलिए सारी सृष्टि से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। यह सारी सृष्टि को प्रकाशित करने वाला है, इससे सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। अत: यही एकमात्र भक्ति का विषय है, प्रेम का विषय है। इसी की श्रेष्ठता हमारे मन में घटित होती है, इसी पर श्रद्धा से हम अवनत होते हैं श्रद्धा से झुकते हैं।' जिसके प्रति श्रद्धा होती है उसके प्रति पूज्य-बुद्धि होती है। सारे संसार को प्रकाशित करने की एकमात्र शक्ति होने से उसी के प्रकाश से सारा संसार प्रकाशित हो रहा था, अत: उस ज्योतिर्लिंग के प्रति उसके मन में भक्ति और श्रद्धा हो गई।

भक्ति और श्रद्धा भर जाने से 'गृणद्भ्यां' उन्होंने उस ज्योतिर्लिंग की स्तुति, प्रशंसा की, उनके प्रति शरणागति को प्रकट करने वाले शब्दों को कहा। अच्छी प्रकार से बहुत ही भावपूर्ण-गंभीरार्थक शब्दों से उसके प्रति भक्ति और श्रद्धा का प्रदर्शन किया। भक्ति और श्रद्धा हुई, अत: उनके मन में पूर्व में जो अभिमान था कि 'हम श्रेष्ठ हैं' वह निकल गया। जब इस प्रकार से उन्होंने स्तुति की तब, 'यत् स्वयं तस्थे' आप स्वयं उनके सामने साक्षात् प्रकट हो गये। उस ज्योतिर्लिंग में उन दोनों को शिव के दर्शन हो गये। उस ज्योतिर्लिंग का न आदि पता था न अन्त, परन्तु जब उनके शरणापन्न हुए, उनमें भक्ति और श्रद्धा हुई तब साक्षात् भगवान् ही प्रकट हो गये। अत: आपकी अनुवृत्ति करने से 'किं न फलति' कौन-सा फल नहीं मिल जाता! असम्भव भी संभव हो जाता है। आप सीमारहित हैं, पर हमारे सामने सीमावाले होकर दीखतें हैं। यह उनकी माया की लीला है, मायिक कार्य है।

इस कथा से अन्य भी संकेत दिया है : ब्रह्मा कर्म के स्वरूप को बतलाते हैं, रजोगुणप्रधान हैं। विष्णु उपासना को बताते हैं क्योंकि ज्ञानप्रधान होने से सत्त्वगुणी हैं। कर्म और उपासना के द्वारा यदि हम परमात्मा को परिच्छिन्न करना

चाहें तो यह सम्भव नहीं। चाहे हजारों वर्ष तक कर्मोपासना करते रहो, उसके फलस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति नहीं। किसके द्वारा होती है? जब कर्म और उपासना दोनों थक जाते हैं तो व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति के द्वारा शरणापन्न हो जाता है। जब तक हमारे अन्दर 'मैं यह कर सकता हूँ' यह भाव है तब तक हम कर्म और उपासना करते हैं। जब देख लेते हैं कि कुछ करके परमात्मदर्शन नहीं हो सकता तब हम उनकी शरण में जाते हैं। तब वे स्वयं ही प्रकट होते हैं। उनका प्रकट होना हमारे प्रयत्न से नहीं है वरन् प्रयत्न छोड़कर उनकी शरण लेने से वे ही प्रकट होते हैं। ब्रह्मा - विष्णु ने स्तुति की *इसलिए* शिव प्रकट हुए ऐसा नहीं है। उन्होंने स्तुति की *तब* प्रकट हुए। उनके द्वारा की हुई स्तुति को आज से महीने भर तक बाँचते रहो, पर उससे शिव तब तक प्रकट नहीं होंगे जब तक वे स्वयं संकल्प न कर लें तुम्हारे लिये प्रकट होने का। प्रकट तो वे स्वयं होते हैं। इतना है कि तुम शरणागत होते हो तब वे प्रकट होते हैं। यह किसी स्तुति आदि का फल नहीं हैं। इसलिए बार - बार कहते हैं कि तुम अपनी साधना करते रहो; यदि हिसाब लगाओगे कि 'मैंने इतनी साधना कर ली, भगवान् अभी तक क्यों प्रकट नहीं हुए', तो सौदा नहीं चलेगा। कभी किसी ने जिस क्षण में शरण ली उसके सामने तभी प्रकट हो गये और कोई दीर्घकाल तक शरंणापन्न हो साधना करता रहा तब उसे दर्शन मिला। कल्पना करने वाले तो करते ही रहेंगे कि अमुक तप - साधना आदि से भगवद्दर्शन मिला लेकिन सच्चाई है कि 'स्वयं तस्थे' वे खुद ही प्रकट होते हैं। जब 'भक्तिश्रद्धाभर' भक्ति और श्रद्धा से तुम भर जाते हो तभी प्रकट होते हैं। इस लीला के द्वारा तात्पर्य यही बतला दिया कि अपनी सामर्थ्य को छोड़कर भक्ति और श्रद्धा से ही साधक दर्शन पाने के योग्य होते हैं। दर्शन वे स्वयं ही देते हैं।

वह दर्शन कैसा है? विचार करने पर तो परमेश्वर अपरोक्ष है, असीम है। उसका दर्शन कैसे हो सकता है? विचार करो तो लगता है कि उसका दर्शन हो नहीं सकता। परन्तु उसकी माया शक्ति ऐसी है कि वे दर्शन दे देते हैं। अगर समझने जाओ कि 'यह कैसे हुआ?' तो यह मानना पड़ेगा कि मायिक है। मायिक कार्य आप लोग दिन - रात करते हैं। एक छोटा - सा कागज़ पकड़ा देते

हैं और कहते हैं, 'यह लीजिए पाँच-सौ रुपये।' यह माया है कि नहीं? पर काम हो जाता है। यह है तुम्हारी माया। इसी प्रकार परमेश्वर माया से दर्शन देते हैं। समझने जाओ कि 'कैसे माया से परिच्छिन्न होकर हमें दीख रहे हैं?' तो समझ नहीं सकते। सबको देखने वाला हमें कैसे दीख सकता है? फिर भी लोग कहते हैं कि दीख सकता है, अनुभव भी करते हैं कि दीखा। अतः माया शक्ति से दीख जाता है, हमारा कल्याण हो जाता है, हम मुक्त हो जाते हैं। कैसे होता है? इसका जवाब नहीं है, अर्थात् माया से होता है। ठीक जैसे पाँच-सौ का नोट पकड़ा दिया, तुम्हारा काम हो जाता है; कैसे हो जाता है? यह कैसे समझाओगे? इसी प्रकोर यहाँ भी जब भक्ति और श्रद्धा से अवनत होते हैं तब वह अपनी माया शक्ति से हमारे सामने प्रकट हो जाते हैं जिससे हमारा काम हो जाता है, हम मुक्त हो जाते हैं।

श्लोक – ११

पहली लीला सत्ययुग की बनायी। उसमें समझाया कि श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर परमेश्वर की स्तुति अवश्य फल को उत्पन्न करती है। अब त्रेता युग की लीला को बताते हैं

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद् बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर ! विस्फूर्जितमिदम्।।११।।

(पदच्छेदः)

अयत्नात् आपाद्य त्रिभुवनम् अवैरव्यतिकरम्
दशास्यः यत् बाहून् अभृत रणकण्डू–परवशान्।
शिरः–पद्म–श्रेणी–रचित–चरणाम्भोरुह–बलेः
स्थिरायाः त्वद्भक्तेः त्रिपुरहर ! विस्फूर्जितम् इदम्।।

(सान्वयार्थः)

त्रिपुरहर ! = हे जीव, जगत् और ईश्वर का भेद मिटाने वाले!
शिरः-पद्म-श्रेणी-रचित-चरणाम्भोरुहबलेः[1] = अपने ही मस्तकरूपी कमलों

की पंक्ति को आपके चरणकमलों में भेंट रूप से चढ़ा दिया, **स्थिरायाः** = ऐसी अविचल **त्वद्भक्तेः** = आपकी भक्ति का (ही), **इदम्** = यह **विस्फूर्जितम्** = प्रताप (है) **यत्** = कि **दशास्यः** = दशमुख रावण ने, **त्रिभुवनम्** = त्रिलोकी को, **अयत्नात्** = बिना प्रयत्न के ही, **अवैरव्यतिकरम्** = वैररहित (निष्कण्टक), **आपाद्य** = बनाकर (भी) **रणकण्डूपरवशान्**[2] = युद्ध के लिये खुजलाते हुए, **बाहून्** = (अपने बीस) हाथों को, **अभृत** = धारण किया।

(१—रावण ने अपने नौ सिर महादेवजी को कमल की जगह पर चढ़ाये थे। २—रावण की ललकार से ही सब लोगों ने हार मान ली अतः उसकी युद्ध की इच्छा पूर्ण नहीं हुई। अतः उसके हाथ युद्ध के लिए खुजलाते ही रहते थे।)

इस लीला का उद्देश्य क्या बताना है? 'त्वद्भक्तेः स्थिरायाः'; आपकी भक्ति यदि कठिन से कठिन परिस्थिति आने पर भी स्थिर रहती है तब सफल होती है। प्रायः परमेश्वर की तरफ जीव चलता तो है परन्तु सांसारिक परिस्थितियों की तरफ ही उसकी वृत्ति चली जाती है। इसलिए परमेश्वर की तरफ चलना प्रारंभ कर के भी उधर स्थिर नहीं रह पाता। गीता में भगवान् ने कहा, 'हजारों मनुष्यों में कोई एक ऐसा होता है जो परमेश्वर की तरफ चलने की सोचता है'। वर्तमानकाल को देखकर आस्तिक कभी भी निराश नहीं होता क्योंकि जानता है कि हमेशा से ही कोई दुर्लभ साधक ही इस रास्ते पर आता है। भगवान् ने कहा, 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति।' हजारों मनुष्यों में कोई एक ही इस तरफ चलने का यत्न करता है। और उस यत्न करने वालों में भी स्थिर रहकर यत्न करता रहे यह और भी कठिन मामला है। जैसे ही विपत्ति आती है वैसे ही यत्न ढीला पड़ जाता है। संसार के कार्य हमें ऐसे आवश्यक लगते हैं कि परमेश्वर के कार्य को हम टालते रहते हैं।

जैसे दर्जी होता है : दर्जी को जाकर तुम कपड़ा सीने को दो कहेगा, 'हफ्ते भर बाद आइयेगा।' तुम हफ्ते भर बाद पहुँचते हो तो कहेगा, 'कोई काम आ गया, चार दिन बाद आइयेगा।' चार दिन बाद पहुँचते हो तो कहेगा, 'थोड़ा काम बाकी है। तीन दिन बाद आइयेगा।' लेकिन जब उसने पहले कहा कि 'हफ्ता भर बाद आइयेगा' तभी तुम अगले दिन पहुँच जाओ, पूछो, 'काटा कि नहीं

काटा?' तीसरे दिन फिर पहुँच जाओ, तो हफ्ते भर की जगह तुम्हें पाँचवें दिन ही तैयार मिल जायेगा! मनुष्य की आदत है कि कोई आकार सिर पर खड़ा हो जाये तो उसके काम को पहले कर देता है और जो शान्ति से कही हुई बात को मान लेता है, उसका काम बहुत देर में होता है। सांसारिक कार्य जितने हैं, वे तो तुम्हारे सिरपर खड़े रहते हैं। शाम को भोजन बनाना है। सात बजे भोजन करना है तो छः बजे ही आकर बच्चे पूछने लगते हैं 'माँ कितनी देरी है?' इसी प्रकार सारे के सारे व्यवहार तुम्हारे सिर पर खड़े रहते हैं- इसको पूरा करो, उसको पूरा करो; यह अटका है, वह अटका है। परमेश्वर इस प्रकार तुम्हारे सिर पर दण्डा लेकर खड़ा नहीं होता! उसने तो तुम्हें कह दिया, 'मनुष्य-जीवन के अन्दर हमने तुम्हें भेजा है। याद रखना, मनुष्य जीवन में तुमको क्या प्राप्त करना है। यह याद रखना।' बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जो पशु जीवन में और मनुष्य जीवन में एक जैसे हैं। खाना, पीना,-यह पशुजीवन में भी आवश्यक है, तुम्हारे लिए भी आवश्यक है। इसी प्रकार से सोना। जैसे सोना तुम्हें जरूरी लगता है; वैसे पशुओं को भी जरूरी लगता है। अगर ज्यादा जगाओगे तो वे भी नींद का झोंका लेने लगते हैं। इसी प्रकार कोई विपत्ति की सम्भावना होने पर उनको भी भय होता है, तुमको भी भय होता है। किसी गाय की तरफ तुम दण्डा उठाकर जाओगे, तो 'अब यह मुझे मारेगा'-यह भय खाकर पूँछ उठाकर दौड़ने लगती है। इसी प्रकार कोई हमारी तरफ बन्दूक उठाकर आता है तो हम भी भागते हैं। इसी प्रकार संतान को उत्पन्न करना, उसको पालना- यह पशु-पक्षी भी करते हैं, मनुष्य भी करता है। आहार-निद्रा-भय-प्रजनन-इनमें मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है कि ये पशुओं के अन्दर नहीं केवल मनुष्य में हों।

क्या चीज पशुओं में नहीं है? पशुओं में विवेक नहीं है। क्या उचित है क्या अनुचित है, इसे वे विवेक करके नहीं समझ सकते। क्या प्रिय है, क्या अप्रिय है- यह तो उनको भी पता है, जैसे हमको पता है। पर प्रिय और अप्रिय के ज्ञान को विवेक नहीं कहा गया है। विवेक का अर्थ है- क्या उचित है, क्या अनुचित है इसे समझना। जो चीज हमें दुःख देने वाली प्रतीत होती है, वह भी उचित हो सकती है। जो चीज हमें सुख देने वाली प्रतीत होती है, वह भी अनुचित हो सकती है। उचित और अनुचित का ज्ञान, औचित्य का ज्ञान

सांसारिक व्यवहार से पता नहीं चलता। उचित और अनुचित का ज्ञान तो मानवीय चिन्तन से ऊपर के किसी चिन्तन से ही ज्ञात हो सकता है। उसका जो विचार हमें प्राप्त होता है, उसी को शास्त्रीय विचार कहते हैं। वही सत्संग आदि से प्राप्त होता है। उसके बिना मनुष्य को उचित और अनुचित का पता नहीं लगता। मोटी भाषा में समझ लो रेल का टिकट लेने गये। अभी कोई आया था, अहमदाबाद से। कह रहा था कि दो महीने पहले रेल के टिकट की खिड़की खुलती है, साठ दिन पहले टिकट मिलना शुरु होता है। मैं साठ दिन पहले टिकट लेने गया और मेरी लाइन में कुल दो आदमी मुझसे आगे थे, तीसरा मैं था। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने कह दिया, 'सारे टिकट बुक हो गये हैं। कोई जगह नहीं है।' मैंने कहा, 'आज टिकट मिलना शुरु होना है और दो ही आदमी खड़े हैं। तीसरा मैं हूँ। टिकट नहीं है? कैसे?' टिकट बेचने वाले ने कह दिय, 'सब बुक हो गये, आरक्षित हो गये तो क्या करें!' आजकल कारण बता देते हैं–कम्प्यूटर। कम्प्यूटर से किसी भी जगह का किसी भी स्टेशन से आरक्षण हो जाता है। जैसे ही खिड़की छोड़कर आगे बढ़ा कि एक आदमी ने पूछा, 'दिल्ली का टिकट चाहिए? जयपुर का टिकट चाहिए? सूरत का टिकट चाहिए?' मैंने कहा, 'हाँ, चाहिए। जयपुर का टिकट चाहिए।' उसने कहा, 'टिकट के दाम से अधिक बीस रुपये और दो, तो अभी ले आता हूँ।' उसे बीस-पचीस रुपये दो तो वह उसी खिड़की पर पीछे से जाकर तुम्हारे नाम का आरक्षण समेत टिकट लेकर आता है। अब विचार करो : तुम्हें जाना जरूरी है अत: लगता है कि पचीस रुपये दे दो और टिकट ले लो। परन्तु घूस देना पाप है अनुचित है अत: नहीं देना चाहिए। चाहे हमें आज यात्रा करने को मिले या न मिले। पर लगता है काम पर जाना ही है, काम जरूरी है, उसका नुकसान तो प्रत्यक्ष दीख रहा है। और टिकट नहीं लेने से सिवाय तकलीफ के और कुछ फल नहीं है। प्रत्यक्ष से यदि निर्णय करना चाहो तो पचीस रुपये देने में कोई ग़लती नहीं। परन्तु यदि तुमने इस बात को समझा है कि परमात्मा को यह बात पसन्द नहीं है अर्थात् यह उचित नहीं है, यह अनुचित है, तब कष्ट सामने दीखने पर भी तुम उस कष्ट को चुनते हो, सुख को नहीं चुनते। यह पशु कभी नहीं कर सकता कि अपना नुकसान दीखे और फिर उसे करे। इसलिये यही मनुष्य और पशु मे फर्क है।

जो उचित होता है उसी को शास्त्रों में धर्म शब्द से कहा है। अतः मनुष्य जीवन में आये हो तो विवेक से धर्म करने के लिए आये हो, उचित करने के लिए आये हो। अन्यथा मनुष्य जीवन और पशु जीवन में कोई फर्क है नहीं।

परमेश्वर ने कह दिया कि, 'तुम मनुष्य जीवन में जा रहे हो तो अपना वैशिष्ट्य याद रखना।' वह दण्डा लेकर खड़ा नहीं रहता! लेकिन सांसारिक कार्य सामने उपस्थित रहते हैं। सात बजे भोजन देना है, नहीं दोगे तो पति नाराज हो जायेगा। समय पर जप-ध्यान आदि नहीं करो तो भगवान् ऐसे नहीं डाटेंगे! सौ वर्ष तक तीन सौ पैंसठ दिन कोई भी ऐसा दिन नहीं होगा कि सुबह से शाम तक कोई न कोई सांसारिक कार्य तुम्हारे सिर पर नहीं खड़ा है जिसे तुम्हें तुरन्त नहीं निपटाना है! आदमी सोचता है कि 'इसको पार कर लूँगा, फिर तो आगे अच्छा ही काम करना है, परमात्मा का भजन ही करना है।' पर एक निपटा नहीं कि दूसरा काम आ जाता है। एक के बाद एक कार्य आता रहता है। अन्तिम समय तक हमें परमात्मा की तरफ जाने का मौका ही नहीं मिलता, समय ही नहीं मिलता।

पहले तो परमेश्वर की ओर जाने वाले कम और फिर जाने वालों में स्थिर रहकर अवश्य कर्त्तव्य मानकर साधना करने वाले और कम। अतः कहा, 'त्वद्भक्तेः स्थिरायाः' आपकी भक्ति स्थिर रखनेवाला ही महान् फलों को प्राप्त करता है। 'इदं विस्फूर्जितम्' स्थिर भक्ति से ही सब फल विस्फुरित होते हैं प्राप्त होते हैं।

ऐसी स्थिर भक्ति किसने की थी? त्रेता युग के अन्दर होने वाले रावण का दृष्टान्त देते हैं। रावण ने क्या किया था? 'शिरःपद्मश्रेणी' आपकी सेवा में उसने अपना सिर चढ़ा दिया, सिर काटकर अर्पित कर दिया। आपकी कृपा से उसे तत्काल दूसरा सिर प्राप्त हो गया! उसने उसे भी काट दिया! इस प्रकार एक के बाद एक नौ सिरों को उसने चढ़ा दिया। दसवाँ भी उसने अपनी ओर से तो चढ़ा ही दिया था! अतः वह दशास्य हो गया, दस सिर वाला, दस मुखवाला हो गया। सिर चढ़ाना भयंकर विपत्ति है, पर ऐसी विपत्ति में भी सिर चढ़ाने में स्थिर रहा।

आस्य क्या है? जिससे खाते हैं वह मुख आस्य है। खाने के तुम्हारे पास दस साधन हैं, दस इन्द्रियाँ हैं। आँख के द्वारा रूप का आहार करते हो। कान के द्वारा शब्द का आहार करते हैं। जीभ के द्वारा वाणी का प्रयोग करते हो। इस प्रकार तुम्हारी दस इन्द्रियों के द्वारा तुम दस तरह के आहार करते हो। 'दशास्यः' उसने अपनी एक-एक इन्द्रियों को परमेश्वर के चरणों में चढ़ाने का कार्य किया। इस प्रकार एक-एक करके दस-इन्द्रियों को चढ़ाया। आपके चरण कमलों पर उसने बलि रूप से, भेंट रूप से दसों को चढ़ाया। सिर भी पद्म है, कमल है। शिव के चरण 'अम्भोरुह' अर्थात् जल में उत्पन्न होनेवाले कमल हैं। जो चढ़ाया, वह भी कमल है, और जहाँ चढ़ाया वह भी कमल है। प्रत्येक इन्द्रिय जिस महाभूत से बनी होती है वह इन्द्रिय उसी महाभूत को विषय करती है। जैसे आकाश से श्रोत्रेन्द्रिय बनी है तों आकाश में रहने वाले शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय ही विषय करती है। जल से जीभ बनी है तो जल से बने स्वाद को जीभ ही लेती है। इन्हें शिवार्पण करने के लिये विपरीत करना है अर्थात् जो कारण है उस तत्त्व के अन्दर अपनी इन्द्रिय को लीन करना है, व्यष्टि को समष्टि में लीन करना है। इसी को लयप्रक्रिया कहते हैं। यही इन्द्रिय की बलि देना है। आँख है व्यष्टि, एक शरीर में होने वाली। तेज समष्टि है, संसार में जितनी आँखें हैं सभी तेजःस्वरूप हैं। अतः जिसकी बलि देनी है, वह आँख भी तेजोरूप हुई और जहाँ बलि चढानी है, परमेश्वर के चरण-कमल, वह भी व्यापक तेजस्तत्त्व है। जब तुम किसी चीज की बलि चढ़ाते हो तब अग्नि में जाकर वह अग्निरूप हो जाती है। कई जगह लोग बलिका अर्थ पशु-बलि से ही लेते हैं। संस्कृत के अन्दर बलिका मतलब केवल पशु बलि नहीं है। किसी भी चीज को सर्वथा चढ़ा देना, दूसरे को भेंट कर देना, इसी को बलि कहते हैं। यहाँ व्यष्टि को समष्टि के साथ एक करना ही बलि है। रावण ने इस प्रकार से दसों इन्द्रियों को चढ़ाया जिससे उसे बड़ी भारी सामर्थ्य की प्राप्ति हुई।

अब देखो! दस तो हमारी इन्द्रियाँ हैं, जिनसे हम चीजों को ग्रहण करते हैं। ग्यारहवाँ हमारा मन है। रावण ने दस इन्द्रियों को चढ़ाया पर ग्यारहवें मन को नहीं चढ़ाया। इसलिए उसके मन में कामना थी। मन की कामना के कारण वह

त्रिभुवन को जीतने में प्रवृत्त हुआ कि 'तीनों लोकों को जीतकर उन पर अखण्ड राज्य करूँ।' ऐसा ही उसने किया। तीनों लोकों में कोई भी उसका सामना करने वाला नहीं रह गया था। यह करने में उसे बहुत अधिक कष्ट भी नहीं उठाना पड़ा। 'अयत्नादापाद्य', कोई बड़ा जबरदस्त प्रयत्न किया ऐसा नहीं है, थोड़े से प्रयत्न से ही वह सफल हो गया। जहाँ जाता था वहीं सफलता प्राप्त कर लेता था। अयत्न का मतलब यह नहीं कि सर्वथा यत्न नहीं करता था! नहीं शब्द के कई अर्थ होते हैं। 'बहुत कम' को भी 'नहीं' कह देते हैं। अतः अयत्न का मतलब ऐसा नहीं ले लेना कि वह बैठा रहा और सब काम हो गया! अति-अल्प प्रयत्न उसने किया, थोड़ा ही प्रयत्न किया, उतने में ही सफलता मिलती चली गई। बिना यत्न के ही सारे संसार को शत्रुरहित कर दिया अर्थात् कोई भी उसका सामना करने लायक नहीं रहा।

उसमें शक्ति तो बहुत थी, और सामना करने के लिए कोई मिला नहीं। 'रणकण्डू' युद्ध के लिए उसके हाथों में खुजली मचती रहती थी! चाहता था कोई आवे तो उससे लड़ूं, पर कोई लड़ाई करने को तैयार ही नहीं होता था। एक बार हम दिल्ली आश्रम में थे तो एक जवान महात्मा आया हुआ था। एक दिन देखा तो वह अपनी भुजा से खम्भे को मार रहा था! हमने पूछा, 'अरे! तू खम्भे पर क्या कर रहा था?' उसने भुजा पर रुद्राक्ष की मणि बाँधी हुई थी, डोरे से। यदि हाथ को तुम किसी भी चीज से टक्कर मारो तो हाथ की मांसपेशियाँ फूलती हैं। कहने लगा, 'मैं टक्कर मार-मारकर देख रहा था कि भुजा फूलने पर यह धागा टूटता है कि नहीं।' यदि उसे कोई दूसरा जवान मिलता, एक-दूसरे से जोर आजमाते तो मज़ा आता। पर कोई था नहीं तो क्या करें! उसी से टक्कर ले रहा था। इसे कहते हैं 'खुजली चलना।' इसी प्रकार युद्ध करने के लिए वह खुजली से भरे भुजदण्डों को धारण करता रहा। परमेश्वर के प्रति जो उसने बलि दी थी, उसके कारण उसमें इतनी सामर्थ्य आ गयी कि सारे संसार को अल्पप्रयत्न से ही जीत लिया और उसमें इतनी ताकत हो गयी कि उसकी टक्कर का कोई ताकतवर उपलब्ध नहीं होता था। बलि चढ़ाने का इतना बड़ा फल हुआ।

श्लोक – १२

भगवान् के चरणों पर अपने मस्तकों की बलि चढ़ाकर अप्रतिम सामर्थ्य पाने वाले रावण के मन में जो कामना रह गयी थी, युद्ध करने की जो उसकी इच्छा अपूर्ण रह गयी थी, उसके कारण आगे क्या हुआ?

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः।।१२।।

(पदच्छेदः)

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारम् भुजवनम्
बलात् कैलासे अपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पाताले अपि अलस–चलिताङ्गुष्ठ–शिरसि
प्रतिष्ठा त्वयि आसीद् ध्रुवम् उपचितः मुह्यति खलः।।

(सान्वयार्थः)

कैलासे = कैलास में, **त्वदधिवसतौ** = आपके रहने पर, **अपि** = भी, **त्वत्सेवासमधिगतसारम्** = आपकी सेवा से ही पाये हुए बल से बलवान्, **भुजवनम्** = अपने (बीस) हाथों रूपी वन को, **बलात्** = अत्यन्त बहादुरी के साथ, **विक्रमयतः** = आजमाने वाले, **अमुष्य** = उस (रावण) को, **त्वयि** = आपके, **अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि** = अंगूठे का ऊपरी भाग अनायास ही धीरे से हिल जाने के कारण, **पाताले** = पाताल में, **अपि** = भी, **प्रतिष्ठा** = टिकाव (स्थान), **अलभ्या** = नहीं मिला **आसीत्** = था। **खलः** = कृतघ्न पुरुष, **उपचितः** = समृद्ध होने पर, **ध्रुवम्** = अवश्य ही, **मुह्यति** = उपकारी को भूल जाता है।

उसे बराबर का कोई योद्धा नहीं मिला, अतः कामना मन में बैठी रही थी किसी अत्यंत वीर से लड़ने की। अतः उसने सोचा कि भगवान् शंकर जिस कैलास पर्वत पर रहते हैं उसी को उखाड़ दूँ! आपकी सेवा से ही उसे इतनी बड़ी सामर्थ्य अधिगत हुई थी, प्राप्त हुई थी परन्तु उस सामर्थ्य से वह आपका ही द्रोह

करने को उद्यत हो गया। 'भुजवनं'; हमारे तो दो हाथ हैं, उसके बीस हाथ थे। तो मानों हाथों का जंगल ही था। उन हाथों द्वारा उसने कैलास को उखाड़ने की कोशिश की। उसने यह नहीं सोचा कि 'इनकी कृपा से सब हुआ है तो इन्हें मैं परेशान न करूँ।' कामना के कारण हुई हाथों की खुजलाहट कहाँ मिटाये! और कोई मिला नहीं तो आपके वहाँ रहते हुए भी उसने जाकर जबरदस्ती उठाने का प्रयत्न किया।

जैसे ही रावण ने उठाने का प्रयास किया, कैलास थोड़ा-सा हिला। जब हिला तो पार्वती जी ने घबरा कर भगवान् शंकर को पकड़ लिया कि क्या हो रहा है? भूकम्प आ गया, कोई ज्वालामुखी फट रहा है, क्या हो रहा है? जैसे ही पार्वती जी ने घबराकर उधर देखा तभी शंकरजी ने अपने पैर का अंगूठा नीचे दबा दिया। 'अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि।' पूरा अंगूठा भी नहीं, अंगूठे के ऊपर का जो छोटा हिस्सा होता है, बस उतने ही हिस्से को। उन्होंने ज़ोर से दबाया हो ऐसा नहीं, बस आलस्य में जैसे छूते हैं, उतना ही उन्होंने दबाया। उतना होने पर ही 'पातालेऽपि प्रतिष्ठा अलभ्या' पाताल में भी रावण को स्थिति नहीं मिल पाई, नीचे ही जाता चला गया! आज भी कैलास की यात्रा पर जाओगे तो एक तरफ मानसरोवर है दूसरी तरफ राक्षस ह्रद या रावणह्रद भी है। बहुत बड़ा तालाब है, करीब-करीब मानसरोवर जितना। वहीं से उसने कैलास उठाया था, वहीं दबा था तब गड्ढा हो गया। कैलास के नीचे उसके हाथ दब गये तो कई वर्षों तक परेशान रहा। भगवान् शंकर को तो मानो पता ही नहीं चला कि क्या हो गया क्योंकि उन्होंने बस जैसे आलस्य से पैर का अंगूठा नीचे को दबाया था, समायोजन पूर्वक तो कुछ किया था नहीं। उनका तो अनायास अंगूठे का सिरा हिलाना हुआ और रावण की दीर्घकाल तक बुरी हालत हो गयी।

पुलस्त्य महर्षि रावण के पूर्वज थे। उन्होंने भगवान् शंकर से जाकर कहा, 'महाराज! यह तो महामूर्ख है, इसने ऐसा कर दिया। अब यह बड़ा दुःखी है, इसे छोड़ दीजिए।' भगवान् ने कहा, 'मैंने तो कुछ नहीं किया।' तब वह वहाँ से छूटा। तब तक पाताल में भी उसको स्थिति नहीं मिली जहाँ उसे शान्ति मिले।

यह क्यों हुआ? कामना के कारण उसने खल का काम किया। खल कहते हैं दुष्ट को। दुष्ट व्यक्ति जिससे लाभ उठाता है, उसी को हानि पहुँचाता है। खल का यह स्वभाव है। हमने इस देश से जल लिया, वायु ली, सब तरह की चीजें लीं। लेने के बाद कहते हैं, 'हमारे देश में यह खराबी है, हमारे देश में वह खराबी है।' माना खराबी है। तुम इस देश के हो कि नहीं? तुमने इस खराबी को दूर करने के लिए क्या किया? कहेंगे, 'सड़कें बड़ी गन्दी रहती हैं।' फिर थोड़ी देर बाद देखते हैं कि पान की पीक उसी सड़क पर वही आदमी थूक रहा है! लगता है वह किसी और देश का रहने वाला है! जो यहाँ आकार कह रहा है कि बड़ी गन्दगी रहती है सड़कों पर, वही उस गन्दगी को करने वाला हैं। सफाई करने की नहीं सोचेगा। कहेंगे, 'महाराज! हम लोग मन्दिरों में जाते हैं तो देखते हैं बड़ी गन्दगी रहती है, बड़ा कीचड़ रहता है।' ठीक है। जिस दिन तुम गये थे, उस दिन तो तुमने झाडू लगाकर साफ कर दिया होगा? फूल की पुड़िया ले जायेगा और फूल चढ़ाकर जो पुड़िया है, उसे वहीं फेंक देगा! और कहेगा कि, 'जी! हमारे मन्दिर बड़े गन्दे रहते हैं।' ये ही सब खल के चिह्न हैं।

जिससे हमने लाभ उठाया उसी को हानि पहुँचाते हैं यह खलता है। और यह केवल छोटे लोगों में ही नहीं है, जो बड़े-बड़े नेता हैं वे बहुत-सी बातें हिन्दू धर्म के विरोध में कहेंगे, जाति-पाँति के विरोध में कहेंगे, फिर चुनाव का समय आने पर ब्राह्मणों से ही अनुष्ठान करवायेंगे, यज्ञ करवायेंगे। अनुष्ठान करने कभी किसी 'सफाई कर्मचारी' को नहीं बुलवायेंगे। जाति-पाँति से होने वाला फायदा तो हमें मिल जाए, पर इसके विरोध में हम भाषण देंगे- यह खलस्वभाव है। ऐसे ही भर्ती-पदोन्नति के समय तो आरक्षित वर्ग को महत्त्व देंगे और इलाज कराते समय योग्यता देखने लगेंगे। यह खलों का ढंग है। अपने इलाज के लिये कोई नेता नहीं कहता कि, 'आरक्षित वर्ग वाले से ही कराऊँगा।' अपना मकान बनवाने के लिए उसी वर्ग वाला इंजीनियर नेता नही ढूँढेगा, सरकारी नौकरी देने के लिए ढूँढेगा अर्थात् सरकार का पैसा-जनता का पैसा- बर्बाद हो, सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था बिगड़े, पुल, इमारतें टूटती रहें- यह खलों का भाव है। चाहे धर्म से लाभ लेना होवे, चाहे जिससे लाभ लेना होवे, लाभ लेकर जिससे लाभ लिया उसका विरोध करना- यह खल का लक्षण है।

रावण ने भी यही किया। जिन भगवान् शंकर को बलि देकर सामर्थ्य प्राप्त की थी, उन्हीं को विचलित करने का प्रयत्न किया। खल का कार्य किया। 'ध्रुवम् उपचितो मुह्यति!' 'उपचित' अर्थात् जब उन्नति को प्राप्त करता है तो 'ध्रुवम्' अर्थात् निश्चित समझ लेना कि खल व्यक्ति मोह को प्राप्त कर लेता है, सोचने लगता है कि 'यह तो मेरी ही शक्ति है।' त्रेता युग के रावण का दृष्टान्त देकर यह बतलाया। रावण के जीवन से भगवान् की भक्ति करने का क्या नतीजा है, यह भी बताया और उनका विरोध करने का जो प्रयत्न है, खल बनने का प्रयत्न है, उसका क्यां नतीजा है यह भी बतलाया।

श्लोक – १३

माया के द्वारा जो लीला–विग्रह प्रकट हुए हैं उनका विचार करते हुए सत्य युग के अन्दर ब्रह्मा और विष्णु को ज्योतिर्लिंग के रूप में दर्शन दिया यह बतलाया, त्रेता के अन्दर रावण को भगवान् ने किस प्रकार से सेवा करने पर फल दिया और फिर उसकी उद्दण्डता पर उसको दण्ड दिया, यह भी बतलाया। अब द्वापरयुग की लीला बताते हैं

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपिं सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
नं तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः।।१३।।

(पदच्छेदः)

यत् ऋद्धिम् सुत्राम्णः वरद ! परमोच्चैः अपि सतीम्
अधः चक्रे बाणः परिजन–विधेय–त्रिभुवनः।
न तत् चित्रम् तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयोः
न कस्यै उन्नत्यै भवति शिरसः त्वयि अवनतिः।।

(सान्वयार्थः)

वरद ! = हे समस्त भोगों को बिना माँगे ही अपने भक्तों को देने वाले! **परिजनविधेयत्रिभुवनः** = त्रिलोकी को दास की तरह अधीन रखने

वाले, **बाणः** = बाणासुर ने, **परमोच्चैः** = सबसे बढ़े चढ़े, **सतीम्** = हुए, **सुत्राम्णः** = इन्द्र के, **ऋद्धिम्** = ऐश्वर्य को, **अपि** = भी, **यत्** = जो (अपने वैभव से), **अधः** = नीचा, **चक्रे** = कर दिया, **तत्** = वह, **त्वच्चरणयोः** = आपके चरणों की **वरिवसितरि** = नमस्कारादि सेवा करने वाले, **तस्मिन्** = उस बाणासुर में, **चित्रम्** = कोई आश्चर्य (की बात) **न** = नहीं है। **त्वयि** = (क्योंकि) आपके चरणों में **शिरसः** = मस्तक का, **अवनतिः** = झुकना (नमस्कार करना) **कस्यै** = किसकी कौन सी **उन्नत्यै** = उन्नति के लिय **न** = नहीं **भवति** = होता है? (अर्थात् सबकी ही सम्पूर्ण उन्नति कर देता है।)

(भगवान् के सामने अपने को नीचा करने से (प्रणाम करने से) संसार में सबसे ऊँचा हो जाता है यही आश्चर्य है।)

इस लीला का प्रयोजन बताते हैं, 'कस्यै उन्नत्यै त्वयि शिरसः अवनतिः न भवति!' आपके चरण कमलों पर आदमी झुकता है, अवनत होता है तो किस उन्नति को प्राप्त नहीं करता है! सम्पूर्ण उन्नति पा जाता है। झुकने से आदमी नीचा होता है, पर परमेश्वर के सामने झुकने पर सबसे ऊँचा हो जाता है। परमेश्वर के आगे कोई जितना झुकेगा उतना ही उन्नत होगा। सर्वथा झुक जाता है, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः छोड़ देता है तो शिवरूप हो जाता है! न झुकने के कारण, अपने अहं को रखने के कारण ही हमारी सारी अवनतियाँ हैं। जितना-जितना अहं को बढ़ाया जायेगा, उतनी-उतनी अवनतियाँ हैं। और जितना ही अहं को झुकाया जायेगा, उतनी ही उन्नति है।

अवनति की पराकाष्ठा, 'मैं ही सब कुछ हूँ। मैं ही करके सारी सफलता प्राप्त कर सकता हूँ। इसमें भगवान् क्या करेंगे।' अहं को ही वह प्रधान समझता है। देवताओं को भी इसलिए वह अधीन करने का प्रयत्न करता है। मेरे पास मन्त्र है और 'मन्त्राधीनाः हि देवताः' अतः देवता भी मेरे वश में है। ऐसे लोग 'कर्म के द्वारा ही सब कुछ किया जा सकता है' ऐसा समझ अपने अहं को ही प्रधान मानते हैं। कर्म फल देता जरूर है पर जड कर्म खुद खत्म होने के बाद फल दे, यह कैसे हो सकता है? जब हम कहते हैं कि 'मेरा कर्म फल देता है' तब यह हम सोचते नहीं कि मेरा कर्म तो समाप्त हो गया, वह फल कैसे देगा?

प्रायः लोग कह देते हैं क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, इस तरह से कर्मफल मान लिया जाये। समस्या यह है कि हमने एक गेंद दीवार पर मारी। उसकी प्रतिक्रिया उसी समय होती है। वह गेंद उसी समय वापस आती है। ऐसी प्रतिक्रिया नहीं होती कि आज गेंद मारें और दस साल बाद आकर हमारे सिर पर गेंद लगे! तो जड क्रिया के तुरन्त बाद उसका नतीजा आता है, प्रतिक्रिया होती है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया को लोग ढूँढते रहते हैं, इसलिए धर्मपथ पर अटल नहीं रह पाते। हर एक यह कहता है कि, 'मैंने यह किया, मुझे इसका फल मिलना चाहिए।' जब वह फल नहीं दीखता तब कहते हैं कि 'कर्म का फल आजकल कलियुग में नहीं दीखता है, उल्टा देखते हैं कि अधर्म करने पर सफलता होती है।' यदि क्रिया-प्रतिक्रिया देखेंगे तो जब अधर्म सुख देनेवाला होता है तब उस पाप क्रिया की वही प्रतिक्रिया मान लेनी पड़ेगी!

अतः सिद्धान्त है कि कर्मफल देने वाला परमात्मा है, कर्म खुद फल नहीं देता है, परमात्मा के माध्यम से देता है। अन्यथा कर्म-व्यवस्था चल नहीं सकती। अब क्योंकि परमात्मा फल देता है इसलिये किस समय फल मिले, यह वह सारी परिस्थिति देखकर निर्णय करेगा। हम एक दिन में इतने पाप कर सकते हैं जिनको सात जन्म लगें भोगने के लिए। और उसी दिन इतने पुण्य भी कर सकते हैं कि सात जन्मों तक देवलोक और गन्धर्वलोक जायें। उन सबका फल इकट्ठा तो हो नहीं सकता कि स्वर्ग भी भोग लें, नरक भी भोग लें! और जिस निमित्त से सुख-दुःख आयेगा, वे निमित्त भी अनेक होंगे। जिसके निमित्त से हमें सुखादि मिलना है उसे भी वहाँ उपस्थित होना पड़ेगा, तभी न हमें उस माध्यम से सुखादि मिलेगा।

शिवरात्रि के दिन सभी देवता काशी में विश्वनाथ के दर्शन के लिए जाते हैं। एक बार की बात है, यमराज भी गये थे। जब यमराज मन्दिर में गये तो वहाँ ज़रा भीड़ थी। बाहर खड़े रहे कि भीड़ छँट जाये तो दर्शन करें। तभी उनकी नज़र पड़ी, एक कबूतर और कबूतरी के जोड़े पर जो क्रीडा कर रहा था। उन्होंने उसे ज़रा ध्यान से घूरकर देखा। यमराज का नाम सुनने से ही अच्छे-अच्छे लोगों के छक्के छूट जाते हैं तो साक्षात् यमराज किसी को घूरकर देखें तब घबराहट का

क्या कहना! बेचारे कबूतर बिल्कुल चुप हो गये, घबरा गये। तब तक मन्दिर में जरा जगह हो गई, यमराज अन्दर चले गये। यमराज का वाहन भैंसा होता है वह बाहर खड़ा था। तब तक भगवान् विष्णु वहाँ पहुँचे, उनका वाहन गरुड है, उसे बाहर खड़ा किया और विष्णु जी दर्शन करने अन्दर चले गये। दर्शन पूजा आदि में समय तो लगता ही है। गरुड ने अपनी गर्दन अन्दर डालकर देखा कि अभी कितनी देर है भगवान् को आने में, देखा कि अभी व्यस्त हैं अभिषेक होगा, देर लगेगी।

तब तक उसकी नज़र उन घबराये हुए, स्तब्ध कबूतर-कबूतरी के जोड़े पर पड़ी। गरुड पक्षिराज हैं, पक्षियों के राजा हैं। अपनी प्रजा के दुःख को देखकर दुःख होना स्वाभाविक है। यही राजा का लक्षण है। जो प्रजा के दुःख से दुःखी होवे, वही राजा होता है। जो प्रजा के दुःख से सुखी होवे, जैसे वर्नमान में, वह राजा नहीं होता है। इन्हें प्रजा के सुख से कोई मतलब नहीं, 'प्रजा के दुःख से मुझे क्या लाभ होगा' -बस यही देखते हैं। गरुड ने उन कबूतरों से पूछा, 'क्या बात है? तुम लोग बड़े घबराये हुए हो?' उन्होंने कहा, 'महाराज! अभी-अभी यमराज हमें घूरकर गया है, इसका मतलब हमारा समय आने ही वाला है। साक्षात् यमराज घूरकर गये हैं।'

गरुड ने विचार किया कि यमराज इन्हें खत्म करें इससे पहले इनकी सुरक्षा कर लेनी चाहिए। उन्होंने कबूतर-कबूतरी से कहा- 'मेरी पीठ पर बैठ जाओ! तुम्हें बचा लेता हूँ।' गरुड के पंखों में तो बड़ी तेज प्रभंजन वायु होती है। उससे वे इतने ज़ोर से गये कि लोकालोक पर्वतपर जाकर उन दोनों को छोड़ दिया। सोचा, 'जो कुछ भी इनकी मृत्यु का कारण होगा, वह यहाँ पहुँच नहीं सकता अतः ये बच जायेंगे।' वहाँ छोड़कर वापस आये यह सोचकर कि 'हमने इन्हें बचा लिया।' मृत्यु का कोई निशचित निमित्त होता है। दुःख-सुख का भी कोई निमित्त होता है। वह निमित्त नहीं होगा, तो वह कार्य भी नहीं होगा। गरुड वापस भी तेज़ी से आये कि कहीं भगवान् को खड़ा न रहना पड़े। लौटकर अपने स्थान पर खड़े हो गये। भगवान् अभी तक बाहर आये नहीं थे।

आने-जाने के प्रयास में उनकी साँस फूल गयी थी। तब-तक यमराज का पूजन समाप्त हो गया, वह बाहर आये। गरुड को देखा। आपस में राम-श्याम हुआ। यमराज ने कहा, 'क्या बात है, तुम इतनी ज़ोर से श्वास ले रहे हो, क्या हुआ?' गरुड ने कहा, 'आपको देखकर किसकी साँस नहीं फूल जाती!' 'बात ठीक है। पर भगवान् विष्णु की तुम्हें करुणा प्राप्त है, अतः मेरे कारण तुम नहीं घबरा सकते हो।' उसने कहा, 'ठीक है, भगवान् विष्णु की कृपा से आप मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते पर मेरी प्रजाओं को आप परेशान कर सकते हैं।' उन्होंने पूछा, 'किसे परेशान किया?' गरुड़ ने कहा, 'अभी आप मन्दिर में जा रहे थे, कबूतर-कबूतरी को आपने घूरकर देखा था। बेचारे घबरा गये।' यमराज ने कहा, 'मैंने उन्हें क्रोध से घूरकर नहीं देखा था। मैं तो खड़ा वैसे ही देख रहा था तो मेरी नज़र उनके भालपर पड़ी। उसमें ब्रह्माजी ने विधान किया था कि 'लोकालोक पर्वत पर, एक बिल्ली आज इनको खाकर अपना पेट भरेगी। उसी से ये मरेंगे।' वह देखकर मैंने सोचा कि ब्रह्माजी बुड्ढे हो रहे हैं, अब कुछ ख्याल नहीं रखते। ये कबूतर यहाँ से सैकड़ो साल उड़कर जायें तो भी लोकालोक पर्वतपर नहीं पहुँच सकते और वहाँ की बिल्ली लाखों साल चलकर आवे तो यहाँ पहुँच नहीं सकती। ब्रह्माजी ने न जाने कैसे लिख दिया! वह बिल्ली वहाँ भूखों मरेगी, और ये यहाँ अमर हो जायेंगे! मैं तो भालपट्ट बाँचकर यह विचार कर रहा था कि ब्रह्माजी बुड्ढे हो गये हैं, कुछ ख्याल नहीं रखते।'

गरुड हाथ जोड़कर कहने लगे कि, 'भगवान् की महिमा अपार है। ब्रह्माजी अभी बुड्ढे नहीं हुए हैं। मैं उन लोगों को अपने ऊपर बैठाकर लोकालोक पर्वत पर पहुँचा आया हूँ।' यमराज ने कहा, 'ठीक हुआ। बिल्ली का पेट भी भर गया होगा। और उनकी भी मृत्यु हो गयी होगी।'

विचार करो; गरुड सोच रहे थे कि हम विधान को बदल रहे हैं, पर विधान की मदद करने में ही उनका सारा प्रयास लग गया। हमें कर्म-फल किसी निमित्त से ही मिलेगा अतः निमित्त को भी वहाँ उपस्थित होना होगा जहाँ हम हैं। इन सबकी व्यवस्था करने वाला ईश्वर है। जो कर्म को प्रधान मानते हैं, वे सोचते हैं कि 'हम कर सकते हैं', पर वस्तुतः सबका फल देनेवाला परमेश्वर ही

है।

इस बात को जो समझ लेता है वह अपने अहं को धीरे-धीरे छोड़ते हुए, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। 'शिवोऽहम्' यह उसका अनुभव होता है- मैं नहीं, शिव ही है। जितना-जितना अहं छूटेगा, आपके चरणों के सामने जितनी अवनति होगी, जितना झुकना होगा, उतनी ही उन्नति होगी।

इसमें दृष्टान्त दिया बाणासुर का। रावण भी असुर था और बाण भी असुर था। 'वरद' -भगवान् शंकर कैसे हैं? वरद। जो भी श्रेष्ठ चीज होती है उसे अपने भक्तों को बिना माँगे ही दे देते हैं। वर अर्थात् श्रेष्ठ चीज, द अर्थात् दे देते हैं। अहंकारवाला सोचता है कि मैं माँगूंगा तब मिलेगा। जो अहंकार छोड़ देता है वह समझता है 'कि मुझे तो यह भी नहीं पता कि मेरे लिए अच्छा क्या है!' अतः वह भगवान् के ऊपर छोड़ देता है कि 'मेरे लिए जो उचित होवे, वह करें।'

देनेवालों की श्रेष्ठता हो तब उन पर निर्णय छोड़ने से फल मिलता है। आज से कोई सत्तर साल पहले की बात है। बीकानेर के एक बड़े सेठ केदार-बद्री की यात्रा करने गये थे। हरिद्वार से पण्डा उन्हें लेकर गया था। सारी यात्रा करके वापस आने पर स्नान करके पण्डे को दान दिया जाता है यह पद्धति है। उन्होंने भी हाथ बाँधकर कहा, 'पण्डितजी, जो आपको चाहिए, सो माँग लीजिए।' पण्डितजी ने सोचकर कहा, 'मुझे पाँच हज़ार रुपये दे दीजिए।' सत्तर साल पहले पाँच हज़ार बहुत होते थे। सेठजी ने कहा, 'अरे पण्डा जी! आपने भी क्या माँगा! आपने मुझे समझा नहीं। दो मकान और पचास हजार रुपये दूँगा आपको, सिर्फ पाँच हजार नहीं।' उन्होंने दो मकान और पचास हजार पण्डे को दिये। देने वाला अपनी योग्यता से कितना देगा, यह उसकी सामर्थ्यपर निर्भर है। किसी के लिए पचास रुपये भी भारी हो सकते हैं, किसी के लिए पाँच लाख भी भारी नहीं होते। जब परमेश्वर पर छोड़ते हैं तब क्योंकि उनका स्तर अनंत है, अतः उनसे क्या मिलेगा इसका ठिकाना नहीं। हम माँगकर लेंगे तो सीमित ही मिलेगा, जितना माँगा उतना मिल जायेगा। परन्तु जब उन पर छोड़ते हैं तब वे अपनी योग्यता के अनुसार हमें देते हैं।

बाणासुर ने यही किया। वह भगवान् शंकर की उपासना करता था बिना कुछ माँगे हुए। रोज़ शिवलिंग बनाता था, उनका पूजन करता था, फिर नदी में बहा देता था। उसके बहाये हुए लिंग बाण लिंग कहे जाते हैं। ऐसा उसने दीर्घकाल तक किया। जो सौ अश्वमेध यज्ञ करता है उसके फल से इन्द्र के पद पर पहुँचता है, वह त्रिलोकी का मालिक बनता है। उसका बड़ा भारी ऐश्वर्य होता है बहुत ऋद्धि-सिद्धि होती है। बहुत ऊँचा होता है इन्द्र का पद। परन्तु बाण ने अश्वमेध न करके भगवान् का पूजन किया और किसी चीज़ की कामना की नहीं। उससे बाण को जो समृद्धि मिली, उससे उसने इन्द्र की समृद्धि को भी नीचा कर दिया! अर्थात् इन्द्र से भी ज़्यादा उसका ऐश्वर्य हो गया। कैसा ऐश्वर्य था? 'परिजनविधेयत्रिभुवनः' तीनों लोक मानों उसके परिजन हुए उसके विधेय अर्थात् उसकी विधि में रहने वाले बन गये थे। इन्द्र की आज्ञा में भी लोग रहते हैं परन्तु प्रेम से नहीं, दण्ड के जोर से। परजिन जो होते हैं, वे प्रेम से तुम्हारी बात को मानते हैं।

बहुत से लोग इस बात को नहीं समझते हैं। कई लोग कहते भी हैं, 'नौकर तो हमारी बात मान लेते हैं, बच्चे नहीं मानते।' नौकर तो दण्ड भय से मान लेते हैं। कल अगर बात नहीं मानेंगे तो निकाल बाहर करोगे। बच्चों को तो बाहर कर नहीं सकते। बच्चा बात मानेगा तो प्रेम से ही। उसे तुम्हारी बात ठीक समझ में आयेगी तो मानेगा, नहीं तो नहीं मानेगा। बच्चा तुम्हारी बात हृदय से मानता है। नौकर मानता है तो दण्ड भय से मानता है। श्रेष्ठ की पराकाष्ठा क्या होगी? जो तुमसे जितना श्रेष्ठ होगा, उतना ही अधिक पूज्य होगा। पराकाष्ठा तब होगी, जब तुम उसके सामने कुछ न रह जाओ! शुरु में पूजा करते समय आदमी सोचता है कि 'मैं पूजा कर रहा हूँ।' परन्तु धीरे-धीरे आदमी जब आगे बढ़ता है तब जगद्धरभट्ट कहते हैं

'स्तुत्यस्त्वमेव, स्तुतिकृत्त्वमेव, स्तुतिस्त्वमेव त्वदृतेऽस्ति नान्यत् ।
इयं त्वविद्या यदहं स्तुवे त्वां स्तुत्येति मिथ्या पृथगर्थबुद्धिः।।'

जिसकी स्तुति की जा रही है, जो पूज्य है, वह आप हैं। 'स्तुतिकृत् त्वमेव' स्तुति करने वाले भी आप हैं। 'स्तुतिस्त्वमेव' जो स्तुति की जा रही है, वह भी

आप हैं। अभी मैं समझ रहा हूँ कि 'मैं स्तुति कर रहा हूँ, आप स्तुत्य हैं'। 'इयं तु अविद्या।' बस यही तो अज्ञान है। बात तो यह है कि मैं नहीं जानता इसलिए मैं कह रहा हूँ कि मैं स्तुति कर रहा हूँ। वस्तुतः तो यह है कि स्तुति करने वाले भी आप ही हैं, आप ही की दी हुई शक्ति से मैं यह सब पूजादि कर रहा हूँ, स्तुति कर रहा हूँ।

बहुत साल पहले हम एक बार अहमदाबाद में थे। वहाँ रमण भाई बहुत बड़े सेठ थे, बड़े सत्संगी थे, रोज ही कथा में आते थे। एक दिन वे किसी को लेकर आये, उन्होंने परिचय कराया कि, 'इनकी तीन कपड़े की मिलें हैं।' जैसे ही उन्होंने वह कहा वैसे ही जो आये थे, वे कहने लगे, 'स्वामीजी! मैं तो इनका बॉबिन मैन हूँ।' कपड़ा मिल में कपड़ा बनाने में काम में आने वाला एक यन्त्र 'बॉबिन' होता है, उसे चलाने वाला 'बॉबिन मैन' होता है, साधारण-सा कर्मचारी होता है। हमने सोचा कि हँसी-मज़ाक कर रहे होंगे, दोनों ही बड़े आदमी हैं। उसने कहा कि यह बात सच है। उसने बताया कि 'इनकी मिल में मैं काम करता था, दो रुपया महीना मिलता था। बहुत पहले की बात है। इन्होंने मेरा काम ज़्यादा देखकर तरक्की देनी शुरु कर दी। फिर मुझे दुकान खुलवा दी। फिर धीरे-धीरे भगवान् की ऐसी कृपा हुई कि............' रमण भाई बीच में कहने लगे, 'मेरी तो एक ही मिल रह गई, इसकी तीन मिलें हो गई!' विचार करो: वह सज्जन कहता है कि 'इन्होंने मुझे दो रुपये से पाँच रुपये देकर उन्नति की तब मेरी मिल बनी।' अहंकारी व्यक्ति सोचता है 'चलो! कोई तो मदद करता ही है। यह तो मेरी बुद्धि है, मेरी मेहनत है कि मेरी मिल हो गयी। इनके रुपये तो वापस कर ही दिये। अब क्या है!'

जैसे उसने जो कुछ प्रारंभ किया वह उनके दिये हुए धन से ही तो किया, इसी प्रकार हम भगवान् के दिये हुए हाथ, पैर, वाणी, आँखें-इन्हीं से तो पूजन कर रहे हैं। शुरु में हम समझते हैं कि हम पूजा करने वाले अलग हैं, वह पूज्य अलग हैं। बाद में पता लगता है कि पूजा करने वाला मैं भी कुछ नहीं, वही है। तब उनकी श्रेष्ठता, उनके प्रति पूज्य दृष्टि हम में पूर्णरूप से उपस्थित हो जाती है।

इसलिए कहा, 'त्वच्चरणयोः वरिवसितरि' आपके चरणों की जो पूजा करता था ऐसे बाण की उन्नति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। 'शिरसः त्वयि अवननिः।' आपके सामने सिर झुकना 'कस्यै उन्नत्यै' किस उन्नति के लिए नहीं होता, अर्थात् हर प्रकार की उन्नतियों को देता है। बाणासुर का राज्य ठेठ आसाम से लेकर था। उसकी राजधानी शोणितपुर थी। 'शोणित' संस्कृत में खून को कहते हैं। उस देश की भाषा में खून को तेज कहते हैं अतः आजकल वहाँ का नाम तेज़पुर। वहाँ बाणासुर का बनाया हुआ प्राचीन शिव मंदिर भी है। केदारनाथ के पास उखीमठ है। वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध, लाये गये थे। रखे गये थे, अतः वहाँ तक बाण का राज्य था। वहाँ उसकी लड़की रहती थी, वहीं अनिरुद्ध रखे गये थे। इतने बड़े क्षेत्र पर बाण का राज्य था।

बाण का समय भगवान् श्रीकृष्ण का समय अर्थात् द्वापरयुग है। इस प्रकार सत्ययुग, त्रेतायुग और द्वापर की लीलाओं को बताया। आगे ऐतिहासिक दृष्टि से तो एक ही लीला आयेगी, गंगावतरण की। बाकी जितनी लीलाएँ आयेंगी, वे पौराणिक हैं, उनको किसी कालखण्ड में नहीं रखा जा सकता अतः पौराणिक हैं। पुराण का अर्थ होता है, 'पुराऽपि नव एव' हमेशा जो नया ही रहता है। इसलिए उसको किसी काल खण्ड में नहीं बाँधा जा सकता।

श्लोक – १४

सत्ययुग द्वापर और त्रेता की लीलायें संक्षेप में बतलाईं। अब पौराणिक लीलाओं का वर्णन करते हैं। पौराणिक लीलाओं में सबसे पहले अमृतमंथन को बतलाते हैं। देवता और असुर दोनों चाहते थे कि हम अमर हो जायें। इन लोगों ने जाकर ब्रह्माजी से पूछा कि 'अमर कैसे हो सकते हैं?' ब्रह्माजी ने उपाय बताया कि 'अमृत का सेवन करो तभी अमर हो सकते हो।' 'अमृत कैसे मिलेगा?' ब्रह्माजी ने कहा, 'समुद्र-मंथन करने से अमृत मिलेगा। परन्तु समुद्र का मन्थन करने के लिए देवता और असुर सब मिलकर मंथन करें तब मंथन होगा।' यों ब्रह्माजी ने वांस्तविक रहस्य बतला दिया। यदि विश्व के अन्दर तुम अमरता प्राप्त करना चाहते हो, अमृत प्राप्त करना चाहते हो, तो सभी को मिलकर रहना पड़ेगा। सभी मिलकर कार्य करेंगे तभी अमृत की प्राप्ति होगी।

ब्रह्माजी ने यह रहस्य बतला दिया।

परन्तु देवताओं और असुरों ने मिलना चाहा अपने-अपने राग-द्वेष को छिपाकर; सिर्फ मंथन के काम के लिए मिल रहे थे अतः वास्तविक मिलन नहीं था। जैसे आजकल जितने ये 'संयुक्त मोर्चे' बनते हैं सरकारों में, ये सचमुच आपस में एक नहीं होते हैं। कोई एक सरकार नहीं बना सकता है अतः मिलजुलकर किसी प्रकार सरकार बना लो-बस यही इनका विचार है, आन्तरिक राग-द्वेष छोड़ते नहीं। जब किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार करें तब तो वास्तविक एकता होती है। एक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते तो एकता देखने की ही होती है, वास्तविक नहीं होती है। आचार्य शंकर के समय भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न बहत्तर मतों वाले थे। इसीलिए आचार्य शंकर की 'विरुदावली' में आता है 'द्वासप्ततिमतोच्छेत्ता' उन्होंने बहत्तर मतों का उच्छेद किया। कैसे उच्छेद किया? उन्होंने बताया कि सब मतों का आधार क्या है। ऐसा नहीं किया कि कुछ इससे लो कुछ उससे लो। सचमुच में सभी धर्मों का आधार सामने रखकर के बाकी जो निराधार मत थे, उन्हें हटाया। वह एकता सैकड़ों साल तक चलती रही। अगर एकता का कोई सैद्धान्तिक आधार होता है तो वह एकता स्थिर रहती है। वर्तमान काल में अनेक जगह एकता लाने का प्रयत्न होता है। हिन्दुओं के अनेक मत-मतान्तर और सम्प्रदायों को एक जगह इकट्ठा करना चाहते हैं। पर इसके लिये आपस में विचार करके कोई एक सिद्धान्त का निर्णय नहीं है। केवल यह होता है कि हम अन्दर से तुम्हें ग़लत मानते हैं, ऊपर से कहेंगे नहीं। जैसे ही सम्मेलन से बाहर आयेंगे, अपने लोगों के बीच बैठेंगे, वैसे ही कहने लगेंगे, कि उनमें यह कमी है, वह कमी है! बिना सिद्धान्त के किसी कार्य-विशेष के लिए इकट्ठे हो सकते हैं पर उससे कभी भी एकता होती नहीं। ऐसे प्रयोग अनेक बार हुए हैं।

जैसे ईसाईयों के 'पोप' होते हैं वैसे ही मुसलमानों के खलीफा होते थे। पोप जहाँ रहता है, वहाँ का वह स्वतन्त्र राजा है। पहले सारे इटली पर उसका राज्य था, फिर रोम में रह गया, फिर मुसोलिनी के समय रोम में थोड़ी-सी जगह में रह गया। वहाँ उसका सिक्का उसकी पुलिस, उसका पोस्ट ऑफिस चलता है। उसके

राजदूत संसार के सभी देशों में रहते हैं। अपने यहाँ का राजदूत उनके यहाँ है, और उनका राजदूत हमारे यहाँ है। उसका स्वतन्त्र राज्य है। इसी प्रकार मुसलमानों का खलीफा होता था। धीरे-धीरे मुसलमान अलग होते चले गये। अन्त में तुर्की में उसका राज्य रह गया। सन् १९२४ के करीब तुर्की के मुसलमान कहने लगे कि 'इसे राजा नहीं मानेंगे। धर्म, धर्म की जगह होता है। हमारे यहाँ भी प्रजातन्त्र होगा।' खलीफा के विरुद्ध उन लोगों ने आन्दोलन किया। हिन्दुस्तान से कोई मतलब तो था नहीं पर यहाँ के मुसलमानों ने विरोध किया कि, 'नहीं, हमारा खलीफा नहीं हटना चाहिए!' जब यहाँ मुसलमानों ने विरोध करना , आन्दोलन करना शुरु किया कि 'अंग्रेज लोग मदद करके वहाँ खलीफे को रखें ' तब गांधी जी ने सोचा कि हम इसी प्रकार से एकता कर लें। गांधीजी ने मुसलमानों के बड़े-बड़े मौलवियों से कहा, 'हम तुम्हारे साथ आन्दोलन करेंगे, तुम्हारा धर्मगुरु बच जायेगा। इसके बदले में तुम हमारे गोवध रोकने में मदद करना।' सिद्धान्त की एकता तो थी नहीं। न मुसलमान मान रहे थे कि गोवध करना ग़लत काम है, और न हिन्दू मान रहे थे कि वहाँ खलीफा होना चाहिए। लेकिन गांधीजी ने सोचा कि इस तरह एकता हो जायेगी, अतः हिन्दुओं ने खिलाफत आन्दोलन किया। खलीफा के लिए था अतः खिलाफत आन्दोलन नाम पड़ा। मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली गांधी के साथ थे, बहुत आन्दोलन हुआ, जेल गये। आन्दोलन का क्या असर होना था! यहाँ आन्दोलन करो और तुर्की के अन्दर राजा बदले यह कैसे होगा? अंग्रेजों ने कहा, 'हम इसमें कुछ नहीं बोलेंगे, यह तुर्की का मामला है।' जैसे ही आन्दोलन खत्म हुआ वे मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली आदि कहने लगे कि, 'हम गोवध रोकने में कोई सहयोग नहीं करेंगे।' गांधी से अलग हो गये। यहाँ तक कि शौकत अली कहते थे, 'एक गया बीता मुसलमान भी गांधी जी से बहुत अच्छा है!' इस प्रकार बिना सिद्धान्त की एकता की तरफ आजकल लोगों की प्रवृत्ति चलती है। अभी थोड़े दिन पहले हिन्दू और बौद्धों ने मिलकर एक सम्मेलन किया। बौद्ध आत्मा को नहीं मानते, ईश्वर को नहीं मानते हैं। विचार तो होना चाहिए कि वे आत्मा को, ईश्वर को मानने के लिए तैयार हैं या नहीं। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ, बस घोषणा हुई, 'जी, हम एक हैं।' ऐसी बिना सिद्धान्त की निराधार एकता होती है।

ब्रह्माजी ने तो कहा कि अगर तुम देव हो, असुर हो और तुम्हारा साध्य एक है, तो साधन भी एक ही होना चाहिए। इन लोगों ने राग-द्वेष अपने अन्दर रखते हुए समुद्र-मंथन करने मात्र, के लिये एकता की। सोचा अमृत मिलेगा तो छक लेंगे। मतभेद रखते हुए इकट्ठे हुए तो अमृत की जगह हालाहल जहर निकला! बिना सिद्धान्त की, जो खाली ऊपर की एकता होती है, उससे हालाहल जहर ही निकलता है क्योंकि उसके पीछे ठगी-धोखाधड़ी होती है। हम सच्ची बात नहीं करते, क्योंकि हम कोई चीज़ प्राप्त करना चाहते हैं। अत: अन्दर से हम तुम्हारे विरोधी होते हैं ऊपर से तुम्हारे साथी होते हैं। ऐसे मिलने का नतीजा कैसा होता है? मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने। चरण सिंह उपप्रधानमंत्री बने। चरणसिंह ने अन्दर-ही-अन्दर मुरारजी को गिराकर खुद प्रधानमंत्री बनने की चेष्टा की। ऐसा करने के लिए, जिससे पहले दुश्मनी की थी, इन्दिरा गांधी से मिला। जैसे ही मोरारजी देसाई हटा, चरणसिंह को भी इन्दिरा गांधी ने गच्चा दे दिया! उसकी भी सरकार खत्म हो गयी। वापस इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री बन गयीं। सैद्धान्तिक एकता न होकर केवल अपने मतलब की सिद्धि के लिए ही जहाँ एकता होगी वहाँ हालाहल ही पैदा होगा। यही हिन्दू मुसलमान की एकता में हुआ। यही जब तरह-तरह के सम्प्रदाय वाले एक सरकार बनाते हैं तब होता है। जब देवताओं व असुरों ने मिलकर समुद्र मंथन किया तब जहर पैदा हुआ। उसी प्रसंग को कहते हैं-

अकाण्ड-ब्रह्माण्ड-क्षय-चकित-देवासुर-कृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः।।१४।।

(पदच्छेदः)

अकाण्ड–ब्रह्माण्ड–क्षय–चकित–देवासुर–कृपा–
विधेयस्य आसीत् यः त्रिनयन ! विषम् संहृतवतः।
सः कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियम् अहो
विकारः अपि श्लाघ्यः भुवन–भय–भंग–व्यसनिनः।।

(सान्वयार्थः)

त्रिनयन ! = हे सूर्य चन्द्र और अग्निरूपी आँखों वाले ! **अकाण्डब्रह्माण्ड- क्षयचकितदेवासुर-कृपादिवेयस्य**[1] = असमय में ही कालकूट जहर के प्रभाव से ब्रह्माण्ड के महाप्रलय की सम्भावना से आश्चर्यचकित देवता और राक्षसों पर दया के वशीभूत होकर. **विषं** = उस कालकूट जहर को. **संह्वतवतः** = (आपने) पी लिया **तव** = आपके **कण्ठे** = गले में **यः** = (उसरो) जो **कल्माषः** = काला दाग **आसीत्** = हो गया **सः** = वह दाग **श्रियम्** = (आपके गले को) सुन्दर **न कुरुते** = नहीं बनाता है **न** = ऐसा नहीं (अर्थात् वनाता ही है)। **अहो** = आश्चर्य है कि **भुवनभयभंगव्यसनिनः** = रामरत संरार के भय को नाश करने के स्वभाव वाले का **विकारः** = असौन्दर्य **अपि** = भी **श्लाघ्यः** = प्रशंसनीय हो जाता है।

(१–अमृतमन्थन के समय जब कालकूट नाम का प्रलयंकर जहर निकला तो राभी डर गये। अन्त में भगवान् विष्णु के नेतृत्व में सभी ने महादेव जी की शरण ली। उन्होंने उसे सहज ही पीकर गले में धारण कर लिया। इसी से आप 'नीलकण्ठ' हो गये।)

जब हालाहल विष निकला, कालकूट विष निकला, तब वह बड़ा भयंकर था। उससे जो ज्वाला निकल रही थी, वह सारे संसार को दग्ध कर रही थी। ठीक वैसे ही जैसे ये सारे नेता मिलकर सरकार बनाते हैं तो सारा भारतवर्ष कष्ट पाता है। ऐसे ही उस समय सारे ब्रह्माण्ड को नष्ट करने वाला कालकूट हालाहल विष निकला। अब उस विप की ज्वाला से 'ब्रह्माण्डक्षय' सारा ब्रह्माण्ड नष्ट होने की स्थिति में हो गया जिस प्रकार सब चीज़ें जलती हैं महाप्रलय के समय में।

महाप्रलय के समय जब सब चीज़ें नष्ट होती हैं तब किसी को आश्चर्य नहीं होता है, क्योंकि वह तो उसका समय है। जैसे शाम के समय सूर्य डूबता है, रोज डूबता है, कोई आश्चर्य नहीं होता है क्योंकि वह उसका समय है। कोई इसके लिए व्रत भी नहीं रखता। परन्तु जब दिन में एक बजे, दो बजे सूरज डूब जाये, तब लोग कहते हैं, 'ग्रहण लग गया। सूर्य नहीं दीखता'। पहले से तैयारी करते हैं– नहीं खाना है। फिर ग्रहण होता है तो दान दो, जप करो, यज्ञ करो, तीर्थ स्नान करो। हुआ क्या है? सूर्य अस्त हुआ है, और कुछ नहीं हुआ है। जब ग्रहण

समाप्त हो तब सूर्य देखो। किसी दिन ग्रस्तास्त हो गया, ग्रहण लगा हुआ ही सूर्य डूब गया, तो अगले दिन जब तक शुद्ध सूर्य न देख लो, तब तक खा नहीं सकते। कई बार ऐसा होता है कि आज सबेरे साढ़े पाँच बजे सूतक शुरु हुआ, तो साढ़े पाँच बजे से नहीं खाया, फिर ग्रस्तास्त हो गया। अब जब तक अगले दिन शुद्ध सूर्य के दर्शन नहीं होते, तब तक कुछ नहीं खाना है, चौबीस घंटे नहीं खाना है। क्या बात हो गयी? 'अकाण्ड' बिना समय के ही यह काम हो गया। रोज होता है, तो सबको पता है कि यह काम होना है।

कोई घटना जब समयानुसार होती है, तब उचित लगती है, समयानुसार नहीं होती तो उचित नहीं लगती। इस शब्द पर ध्यान देना, 'समयानुसार'; जो भी घटना होगी, होगी तो समय पर ही। सौ साल का पंचांग लो, सौ साल के सारे ग्रहण उसमें दिये हुए हैं। ग्रहण भी होंगे तो समय पर ही। इसमें कोई संदेह नहीं है। परन्तु समयानुसार नहीं है अर्थात् जब जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं है। प्रायः लोग शंका करते हैं कि अकाल मृत्यु का मतलब क्या? बिना काल के कोई नहीं मरता। काल आयेगा तब ही मरेगा, नहीं तो कहाँ से मरेगा? पर *उचित* काल का न होना ही अकाल कहा जाता है।

एक महात्मा किसी के घर गये थे। वहाँ से चलने लगे तो किसी ने कहा आप हमें कोई आशीर्वाद देवें। महात्मा ने लिखकर दिया- 'दादा मरेगा, बाप मरेगा, बेटा मरेगा।' भक्त देखकर दुःखी हो गये, क्योंकि साधारण आदमी मरने की बात से घबरा जाता है। कहने लगे 'महाराज! यह आपने क्या आशीर्वाद दिया!' उन्हें लगा कि शाप दिया है। महात्मा ने कहा कि 'मैंने बहुत अच्छा आशीर्वाद दिया। संसार में जो उत्पन्न हुआ है वह मरे नहीं यह नहीं हो सकता। पर पहले दादा मरे, फिर बाप मरे, फिर बेटा मरे, तब तो समयानुसार है। इसके विपरीत हो जाए कि बेटा मर जाए, बाप रह जाए तो भयंकर दुःख की घटना हो जाती है। मैंने इस ढंग से इस क्रम में आशीर्वाद दिया है कि तुम्हारे घर में समयोचित घटनाएँ चलती रहें।'

मरेगा काल से, पर कालानुसारी मरना वह हुआ कि जिसका मरना जिस समय उचित है, उस समय वह मरे। रोज हम लोग चरणामृत पीते हैं

'अकाल-मृत्युहरणम्।' अकाल मृत्यु का मतलब हुआ, जैसी मृत्यु होनी चाहिए, वैसी मृत्यु का न होना जैसे जवानी में मर जाना, बचपन में मर जाना। बुड्ढा होकर मरे तो ठीक है।

कहीं पानी नहीं बरसता तो क्या कहते हो? अकाल पड़ गया। क्या वहाँ काल नहीं है? काल तो है ही, पर जैसा काल होना चाहिए था वैसा नहीं है। बरसात के बाद खेती लहलहानी चाहिए थी, पर खेत लहलहा नहीं रहे हैं, अतः अकाल पड़ गया। जेठ के महीने में सूखा रह गया तो अकाल नहीं कहते, पर बरसात के बाद भी जमीन वैसी ही पड़ी हो, तब अकाल होता है।

इसी प्रकार ब्रह्माण्डक्षय महाप्रलय के समय होता है, वह उचित ही है। हज़ार चतुर्युगी बीतती है तो महाप्रलय होता है। एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख बीस हज़ार साल की होती है। उतने साल हजार बार हो जाएँ तब महाप्रलय आता है। किन्तु हालाहाल विष आने से 'अकाण्डब्रह्माण्ड' असमय में ही सारा ब्रह्माण्ड क्षय होने लगा। इसे देखकर सारे देवता व असुर चकित रह गये; 'यह क्या हो रहा है! चले तो हम अमृत-मंथन करने थे पर निकल रहा है जहर।' ठीक जिस प्रकार से राममन्दिर, गोवध बन्दी इन सबको लेकर प्रयत्न किया गया, पर निकला क्या? और कहते हैं शान्ति रखो! शान्ति रखो! ऐसे ही निकले तो थे अमृत-प्राप्ति के लिए, पर हालाहल निकला अतः चकित रह गये। जैसे हम लोग चकित होते हैं, कहाँ तो हमने सोचा था कि राममन्दिर बनेगा, गोवध-बन्दी होगी, शराब-बन्दी होगी। वे सब घबराये। देवताओं को असुरों ने कहा कि तुम कुछ उपाय करो। असुरों को देवताओं ने कहा कि तुम कुछ उपाय करो। पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि कोई समाधान निकाले।

भगवान् विष्णु ने कहा कि 'देखो, भाई! इसका समाधान तो एकमात्र देवाधिदेव महादेव के पास है, अपने बूते का नहीं है। हम लोग देवता और असुर राग-द्वेष के कारण फँसे हुए हैं, अतः हम लोग इस हालाहल विष को नहीं हटा सकते हैं। एकमात्र भगवान् शंकर जो दोनों पक्षों में नहीं हैं, वे ही इसका समाधान निकाल सकते हैं।' भगवान् शंकर बैठे हुए थे शान्ति से। सब वहाँ पहुँचे और कहा, 'महाराज! आप इस हालाहल को धारण कीजिए।' पार्वती जी ने सोचा

कि इन सबको तो अपना मतलब साधने की पड़ी है। इन्होंने विष पी लिया तो विधवा होकर मुझे ही बैठना पड़ेगा। वह कहने लगी, 'बिल्कुल मत पीजिएगा, इनकी बात मत सुनिएगा।' भगवान् शंकर का पार्वती पर प्रेम तो है ही। देवताओं ने विष्णु जी को आगे किया, क्योंकि जैसे पार्वती भगवान् शंकर को प्रिय हैं, वैसे ही विष्णु भगवान् भी उनको अत्यन्त प्रिय हैं। विष्णु भगवान् कहने लगे, 'महाराज पी लीजिए।' दोनों की बातें ठीक हैं। विष्णु भगवान् जगत् के पालक हैं। भगवान् विष नहीं पीयेंगे तो संसार कैसे बचेगा? पार्वती जी के वे पति हैं अतः उनका कहना भी ठीक है कि मत पीजिए। ऐसी विरोधी बातों का कैसे समाधान किया जाए? भगवान् शंकर ने विष ले लिया। हमारे यहाँ पीने का अर्थ होता है, 'गलाधोनयनव्यापार' गले के नीचे जो उतरने का व्यापार है उसको कहते हैं पीना, चीज़ गले के नीचे जाये। भगवान् शंकर ने उस जहर को गले तक उतारा, वहाँ से नीचे नहीं ले गये; इस प्रकार पीना हो भी गया, नहीं भी हुआ। दोनों की बात मान ली। 'पी लीजिए' मानकर गले तक उतार लिया और 'मत पीजिए' मानकर वहाँ से आगे नहीं उतारा। यह है उन देवाधिदेव की विलक्षण सामर्थ्य। जिस विष से सारा ब्रह्माण्ड जल रहा था, उसको उन्होंने गले में धारण किया। कभी ज़रा ज्यादा छोले-भटूरे खा लो तो पेट में रात को अम्ल हो जाता है। उस अम्ल की डकार आती है तो गला जलता है। तब आदमी इतना घबराता है कि कैसे यह जलना बन्द होवे। मामूली अम्ल को सहन करना इतना कष्टप्रद होता है। भगवान् शंकर तो जब तक महाप्रलय नहीं आती तब तक हालाहल विष धारण किये हुए हैं।

क्यों? 'देवासुरकृपाविधेय' देवता और असुर दोनों पर कृपा का विधान करने के लिए। उनके लिए दोनों एक जैसे अतः दोनों पर कृपा का विधान करने के लिए विष को धारण कर लिया। वह जो गले में हालाहल विष था, उसका दाग, उनके सफेद शरीर पर हो गया। भगवान् शंकर का शरीर कैसा है? स्फटिक के जैसा, रजत के जैसा, कर्पूर के जैसा, बिल्कुल सफेद शरीर है उनका। उसके ऊपर वह काला दाग स्पष्ट दीखता है। इसलिए भगवान् शंकर का एक नाम नीलकण्ठ पड़ गया, जिनका कण्ठ नीला है। 'विषं संहृतवतः।' चूँकि उस विष का उन्होंने अपने अन्दर संहार किया, अपने अन्दर रोककर रखा, अतः ऐसा हो

गया।

सुन्दर शरीर के ऊपर दाग लग गया तो क्या बुरा हुआ? कहते हैं नहीं, 'तव न कुरुते न श्रियं' वह आपकी शोभा को बढ़ाता ही है, सौन्दर्य को बढ़ाता है, श्री को बढ़ाता है। एक बड़े अच्छे कवि हुए हैं, राजस्थान के महाकवि माघ। एक बार वहाँ बड़ा अकाल पड़ा। कहीं आस-पास खाने की व्यवस्था न थी। वह वहाँ से चलकर उज्जैन, जो उस समय भारतवर्ष की राजधानी थी, वहाँ गये। कई बार राजा उनको बुलाता था, पर वे गये नहीं थे कि क्यों जाना राजा के पास? पर अब आवश्यकता थी, चारों तरफ की परिस्थिति को देखकर वहाँ गये। राजा ने सम्मान दिया, आदर दिया और उनको पुष्कल धन देकर, कुछ समय वहाँ रखकर विदा किया। वे धन लेकर आ रहे थे। रास्ते में सब जगह अकाल था ही वे सबको आवश्यकतानुसार धन देते रहे। अन्त में जब घर पहुँचे तो उनके पास कुछ नहीं बचा। सब दे आये थे। घर में पत्नी-बच्चे भी आशा में बैठे थे। जब घर पहुँचे तो पत्नी-बच्चों का आशा-भरा मुख देखा, बड़ा दुःख हुआ कि अरे! मुझे कुछ तो बचाकर रखना चाहिए था। उनके मुख पर मलिनता आ गयी। जैसे पति थे, वैसे ही पत्नी। पत्नी ने कहा, 'हे पतिदेव! आपको परेशान होने की जरूरत नहीं। जिस प्रकार बादल जलती हुई भूमि के ऊपर बरस कर खाली हो जाता है फिर भी शोभित होता है, इसी प्रकार सब कुछ देकर आये हो, यह आपकी श्री को बढ़ा रहा है, आपकी श्रीको घटा नहीं रहा है।' माघ बड़े प्रसन्न हुए कि इसने बात को समझा। सामान्य दृष्टिवाली होती तो कहती, 'कुछ घर के लिए भी लाना चाहिए था, तुम्हारी बुद्धि बिल्कुल बेकार हो गई है। सब पढ़ लिखकर बेकार कर दिया।' पर समझदार थी तो समझ लिया कि सबका उपकार करने वाले हैं अतः आज इनके पास कुछ नहीं है तो भी ये शोभा वाले हो गये हैं। इसी प्रकार भगवान् शंकर के गले में जो दाग है, वह श्री करता है। 'तव न कुरुते न श्रियमहो।'

इन सारी बातों का क्या तात्पर्य? अन्तिम पंक्ति में बतलाते हैं, 'भुवनभयभंगव्यसनिनः विकारोऽपि श्लाघ्यो।' सारे संसार को जो भय दे रहा है उस भय देने वाले को नष्ट करने में जो 'व्यसनिनः' प्रयत्नशील है, संसार के

कष्टों को दूर करने में जो प्रयत्नशील है, उसके किसी विकार की प्रतीति होने पर भी वह श्लाघ्य है, उससे वह बुराई को प्राप्त नहीं होता, उल्टा प्रशंसनीय ही रहता है। अत: जो सबको दु:ख देने वाली चीज़ हो, उसको दूर करने के प्रयत्न में अपने ऊपर कोइ आपत्ति भी आवे, कष्ट भी आवे, तो उससे घबराना नहीं चाहिए। इसलिए कहा, 'विकारोऽपि श्लाघ्य:।' वह विकार भी प्रशंसनीय है।

यह पौराणिक लीला है अत: इसके कुछ अन्य तात्पर्य भी हैं। अमृत मोक्ष को कहते हैं। मोक्ष के लिए ही हमारे अन्दर दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियाँ हैं। सात्त्विक प्रवृत्ति और राजस प्रवृत्ति। सात्त्विक और राजस प्रवृत्तियों को मिलाकर जब एक करते हैं तब अमृत की प्राप्ति होती है। राजस प्रवृत्ति है कर्म की प्रवृत्ति और राजस प्रवृत्ति ही रागकी प्रवृत्ति है। होना तो यह चाहिए कि हमारी सारी क्रिया परमेश्वर के लिए होवे, हमारा सारा राग, सारा प्रेम परमेश्वर के लिए होवे। सत्त्वगुण ज्ञान को बताता है-'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्' परमेश्वरविषयक ही हमारा ज्ञान होवे यह सात्त्विकता है। जब ज्ञान व क्रिया दोनों एक उद्देश्य से प्रेरित होकर चलें तब अमृतरूप मोक्ष की प्राप्ति हो। पर जीवन में होता क्या है? दोनों की एकरूपता हम कर नहीं पाते हैं। आजकल प्राय: यही सुनने को मिलता है, 'महाराज! आप जो बात कहते हैं वह ठीक है, पर व्यावहारिक नहीं है।' सत्त्वगुण की बात तो जँच रही है, पर रजोगुण की प्रवृत्ति वैसी नहीं हो सकती। हमारे ज्ञान और क्रिया में भेद बना रहता है, एकता नहीं रहती। ऊपर से तो एकता हो ही जाती है, जैसा समझते हैं वैसा करते हैं, पर अन्दर से ज्ञान व क्रिया में भेद रहता है। अथर्ववेद में मन्त्र आता है, 'हृदय को सिर के साथ, मूर्धा के साथ सीकर एक कर दो।' मूर्धा या सिर से ज्ञान को कहते हैं, हृदय से मन को कहते हैं जिसके द्वारा सारी क्रियाएँ होती हैं। हृदय व मूर्धा को सी दो अर्थात् ज्ञान और क्रिया एक ही उद्देश्य से प्रवृत्त होवें। परन्तु होती नहीं। इसलिए जीवन के अन्दर हम प्रयत्न तो अमृत पाने का ही करते हैं, सुख के लिए करते हैं परन्तु सुख के लिए प्रयत्न करने पर भी हमें मिलता क्या रहता है? दु:ख ही मिलता रहता है। ज्ञान और क्रिया के अन्दर सामंजस्य नहीं है अत: दु:ख रूप हालाहल की प्राप्ति होती है।

दुःखरूप हालाहल कौन धारण कर सकता है? एकमात्र परमेश्वर ही इस हालाहल को धारण कर सकते हैं। अर्थात् हम जैसे भी हैं, जब हम अपने को परमेश्वर की कृपा पर छोड़ देते हैं कि, 'हम इसको अपनी सामर्थ्य से नहीं दूर कर सकते' ऐसी दृढ भावना से जब हम अपने को परमेश्वर की कृपा पर छोड़कर अपने को झुकाते हैं, उनकी शरण में जाते हैं तब वे ही इसे धारण करते हैं। अज्ञान ही हालाहल है। अज्ञान को छोड़कर परमेश्वर की शरणागति करते हैं तब हमारे अज्ञान को नष्ट करने के लिए वह उसे अपने ऊपर धारण कर लेता है। वेदान्त की भाषा में, अभीं तो हम समझ रहे हैं कि हम कर्ता हैं, पर सर्वकर्ता परमेश्वर है। 'सर्वकर्ता परमेश्वर है' यह परमेश्वर के ऊपर अज्ञान का आरोप करके ही सम्भव है। मायाविशिष्ट चेतन ही जगत् का कर्ता है। माया कहो, अज्ञान कहो एक ही बात है। वस्तुतः तो वह 'स्फटिकरजतवर्ण' है क्योंकि 'अनुत्पन्नमिदं जगत्' जगत् उत्पन्न नहीं हुआ। परन्तु जब हम यह समझ पाते हैं कि 'मायाविशिष्ट चेतन ही सब कुछ कर रहा है, मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ', इस प्रकार उसके सामने अवनत होते हैं, तब वह उस अज्ञान के जहर को नष्ट कर देता है जो हमने शुद्ध चेतन के अन्दर अज्ञान का दाग लगाया। वस्तुतः तो वह मायातीत है। माया का आश्रय कहाँ से हो सकता है! यह जो दाग हम उनके ऊपर लगाते हैं,वह उनकी शोभा को बढ़ाता है, अतः हमारी मोक्ष-प्राप्ति का साधन बन जाता है। इसलिए माया का आश्रय परमात्मा को मानने से हम उनके ऊपर कोई दोष नहीं लगाते हैं अपितु वह उनकी शोभा को बढ़ाता है। परमात्मा के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्लोक -१५

तीन युगों के तीन चरित्रों को कहने के बाद अब पौराणिक चरित्रों को कहना आरम्भ किया है। उसमें पहला चरित्र बताया नीलकण्ठ का। नीलकण्ठ का चरित्र परमात्मा के ऊपर अविद्या का अध्यास करके बतलाया। स्वभाव से जीव अपने में अज्ञान मानता है 'मुझ में अज्ञान है'। वास्तविक स्थिति क्या है? अज्ञान होने पर ही 'मैं' यह वृत्ति आती है। अतः मैं अज्ञान से पैदा हुआ, मुझ में अज्ञान कैसे है? इसलिए शास्त्रकारों ने कहा, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव

केवला' परब्रह्म परमात्मा सारे द्वैत भागों से रहित निर्गुण, निष्क्रिय शिव है, उसी के आश्रय में यह अविद्या रहती है। जब हम इस अविद्या को परमेश्वर के ऊपर करते हैं तो वह परमात्मा की श्रीको बढ़ाता है, क्योंकि उससे अज्ञान निवृत्त होकर हम अपने अमृत तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। बन्धन के स्वरूप को बतलाते हुए आचार्य शंकर कहते हैं, 'अविद्याकामकर्म।' बन्धन किससे है? अपने आत्मस्वरूप को न जानने से है। जब आत्मस्वरूप नहीं जाना तब क्या होगा? जो अनात्मा है उसकी कामना करने लगते हैं।

जैसे लोक में होता है : 'मैं ब्राह्मण हूँ'; ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कामनाएँ अर्थात् संसार के पदार्थों की प्राप्ति के लिए नहीं है। यह तो उस परमपद मोक्ष की प्राप्ति के लिए है। 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस बात को भूलता हूँ तो मन में क्षुद्र कामनाएँ आती हैं। 'महाराज! हमारे भी बच्चे हैं, हमको भी मकान चाहिए।' जब ये कामनाएँ आती हैं तब हम अपनी उचित स्थिति से दूर होते हैं। संस्कृत के एक बड़े भारी विद्वान् हुए हैं, कैय्यट। उन्होंने 'पाताञ्जलमहाभाष्य' के ऊपर व्याख्या लिखी है। वे कश्मीर के थे। उनके ग्रन्थ उनके समय में ही भारतवर्ष में सब जगह प्रचलित हो रहे थे। वह जमाना अभी छपाई का नहीं था, किताबें छपने से तो बहुत जल्दी इधर-उधर पहुँच जाती हैं। उस समय कोई किताब तुम्हें अच्छी लगी तो उसकी नकल लिखनी पड़ती थी। इतना ही नहीं, जल्दी तुम्हें कोई किताब लिखने को नहीं देता था। जब पढ़ाया जाता तब उसको याद करना पड़ता था, फिर चाहे यादकर तुम घर में लिखो। आज भी वैदिकों में वेद पढ़ाने का तरीका यही है। तुमको मन्त्र सुना दिया, तुम मन्त्र को याद करो। जब याद हो जायेगा, तब अगला मन्त्र बतायेंगे। इस प्रकार से आज भी जो वैदिक हैं उनको पूरा वेद कण्ठ होता है। वैदिक भी उन्हीं को कहा जाता है जिनको पूरा वेद कण्ठ होता है। इसलिए काशी में वेदाचार्य और वैदिक में भेद है। वेदाचार्य की परीक्षा सरकार लेती है। सरकार की परीक्षा में इधर-उधर के विषय होते हैं, वेद कण्ठ होता नहीं। प्राचीन जमाने में ग्रन्थ का प्रसार-प्रचार हो जाना तभी सम्भव था जब ग्रन्थ सचमुच में रुचिकर और अत्यन्त उपयोगी होवे।

काशी के कुछ विद्वान् कश्मीर गये। कश्मीर के अन्दर बहुत तीर्थ हैं। कुछ

तो मुसलमानों ने तोड़ दिये, कुछ अभी भी बचे हैं। तब तक कश्मीर में मुसलमान आये नहीं थे, बहुत-से तीर्थ स्थान थे। काशी के पण्डितों के लिये यात्रा आदि की वहाँ के राजा ने व्यवस्था की। सब व्यवस्था हो गयी थी, उन लोगों ने बड़े आराम से तीर्थ किये। प्रसन्न हुए। वापस लौटते समय राजा ने पूछा कि 'आप जो कुछ देखना चाहते थे सब देख लिया? अब और कुछ देखना चाहते हैं? कोई असुविधा हुई हो तो बताइये?' उन्होंने कहा, 'नहीं राजन्! हमें कोई असुविधा नहीं हुई है। हम जो स्थान देखना चाहते थे, हमने देख लिये। परन्तु यहाँ कैय्यट नाम के विद्वान् रहते हैं, उनसे हम मिलना चाहते हैं।' राजा ने अपने दरबारियों से कहा, 'अरे भाई! कैय्यट को जानते हो क्या?' दरबारियों को नहीं पता था। राजा ने पण्डितों से कहा कि 'आप लोग एक-दो दिन आराम करें' और अपने लोगों से कहा कि, 'पता लगाओ, कैय्यट कहाँ हैं?'

दो-चार दिन ढूँढने पर पता लग गया कि कैय्यट कहाँ हैं। पण्डित लोग उनसे मिलने गये। वे नंगेबदन एक चटाई पर बैठे थे, लिख पढ़ रहे थे, लोगों को पढ़ा रहे थे। पण्डितों ने परिचय दिया कि 'हम काशी से आये हैं।' कैय्यट के साथ बातचीत हुई। शंकाओं का समाधान हुआ, बड़े प्रसन्न होकर गये। राजा ने पूछा, 'ठीक से मिल लिये?' उन्होंने कहा, 'हाँ जी! मिल तो लिये, पर आपका राज्य ज्यादा दिन टिकेगा नहीं।' राजा ने पूछा, 'क्यों भाई! ऐसी क्या बात है?' उन लोगों ने कहा कि 'कैय्यट जैसा विद्वान् इस राज्य में चटाई पर बैठकर गुजारा चलाता है, उसके लिए कोई व्यवस्था नहीं है। जहाँ विद्वानों का अनादर होता है, वह राज्य ज़्यादा दिन टिकता नहीं।' राजा ने कहा, 'ऐसी बात है? हम अभी उनकी व्यवस्था करवा देंगे।'

काशी के विद्वानों को जाना था, वे चले गये। राजा ने अपने मन्त्री और दीवान को कहा कि जो-जो चीज़ें कैय्यट को चाहिए, उन सबकी व्यवस्था जाकर कर दो। दीवान गया, पूछा कि 'आपको जो-जो चाहिए, वह ले लीजिए।' उन्होंने कहा, 'नहीं, हमारे पास सब कुछ है, हमें कुछ नहीं चाहिए।' वापस लौटकर दीवान ने बताया कि 'कहते हैं हमें कुछ नहीं चाहिए।' राजा ने कहा, 'नहीं भाई! काशी के विद्वान् कह गये हैं कि मेरा राज्य ही नहीं चलेगा अतः व्यवस्था

जरूर करनी है।' राजा खुद वहाँ गया। उस जमाने में लोग संस्कृत में ही बोलते थे। राजा ने पूछा, 'आपको जो भी अनुपपत्ति होवे, वह बता दीजिए।' संस्कृत में अनुपपत्ति शब्द के दो अर्थ होते हैं। अगर कोई चीज़ हमारे पास नहीं है और हमें चाहिए तब भी अनुपपत्ति कहते हैं और यदि कोई बात हमने सोची और उसके लिए कोई युक्ति नहीं मिली, हम ढूंढ रहे हैं कि कोई युक्ति मिल जाए, तब भी अनुपपत्ति कहते हैं। राजा ने जब पूछा था कि, 'आपको कोई अनुपपत्ति हो तो बता दीजिए', तब उनका मतलब था कि कोई चीज चाहिए तो बता दीजिए। कैय्यट समझे कि यह पूछ रहा है कि आपको कोई ऐसी बात तो नहीं पूछनी जो आपको अनुपपन्न लगती हो।

उन्होंने कहा, 'राजन्! मैंने तो खूब विचारकर ग्रन्थ लिखा है। मुझे कोई अनुपपत्ति नहीं है। तुझे कोई अनुपपत्ति हो तो तू बता, मैं समाधान करता हूँ।' राजा ने कहा, 'महाराज! मैं कोई पढ़ा-लिखा तो हूँ नहीं! मैं तो कह रहा हूँ कि आपको कोई चीज़ चाहिए तो ले लीजिए।' उन्होंने कहा, 'हमें तो कुछ नहीं चाहिए, पर्याप्त है।' राजा ने कहा कि 'काशी के विद्वान् आये थे और उन्होंने कहा कि यदि आपको कुछ नहीं दिया जायेगा, तो यह राज्य खत्म हो जायेगा। अतः कुछ ले लीजिए।' उन्होंने अपनी पत्नी को बुलाया, पूछा, 'घड़े में कितना अन्न है?' उसने कहा, 'आधा घड़ा।' उन्होंने कहा 'यह पर्याप्त है, पर यदि आपकी इतनी ही इच्छा है तो घड़े को पूरा भर दीजिए।' राजा ने कहा कि 'झोपड़ी की जगह पक्का मकान बना देते हैं, सारा इंतजाम कर देते हैं।' उन्होंने कहा, 'नहीं, यब सब नहीं।' राजा ने कहा कि 'अगर आप यह सब नहीं लेंगे तो हमारे राज्य को नुकसान होगा। अतः आपको लेना ही पड़ेगा।'

कैय्यट ने घरवाली से कहा, 'अरे! ये सब चटाई, आधा घड़ा अनाज ले ले, और सब किताबें ले ले। हम किसी और राज्य में चलते हैं। इनका तो नुकसान नहीं होना चाहिए।' राजा ने कहा, 'नहीं-नहीं, हमारा मतलब यह नहीं है।' उन्होने कहा, 'राजन्! हम शास्त्र-चिन्तन करने वाले लोग, परमात्मचिन्तन करने वाले लोग हैं। मकान आदि को सम्भालने लगूँ तो शास्त्र-चिन्ता कब करूँगा? इसलिए ऐसे ही मुझे रहना है, तभी शास्त्र-चिन्तन हो सकता है अन्यथा

नहीं।'

'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अभिमान होगा, तभी अनात्मपदार्थों की कामना नहीं होगी। परन्तु 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह निश्चय नहीं होगा, तो मुझे भी क्षत्रिय वैश्य की तरह 'यह चाहिए, वह चाहिए' ऐसी कामना होगी। क्षत्रिय, वैश्य की तरह ही नहीं, उससे भी आगे शूद्र की तरह। हमारे यहाँ शूद्र को खाना, पीना, जगना इन सब नियमों से छुट्टी देकर रखा गया है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं, 'न शूद्रे पातकं किञ्चित् न च संस्कारमर्हति' शूद्र की मर्जी होवे तो छः बजे उठे, मर्जी होवे तो सात बजे उठे। अब ब्राह्मण कहता है 'मैं ही चार बजे क्यों उठूँ?' 'महाराज! तबियत ठीक न होवे तो फिर देरी से उठने में कोई हर्जा तो नहीं है?' प्रश्न क्यों आता है? भाव है कि मैं भी शूद्र की तरह क्यों नहीं उठ सकता। रेल में जाते हैं, चौबीस घंटे की यात्रा होती है। वहाँ तो किसी के साथ भी बैठकर खा लेना चाहिए, भूखे कैसे रहेंगे? – 'ब्राह्मण' के मन की यह शंका नहीं है। उसके मन में यह नहीं आयेगा कि शूद्र खा रहा है, हमारे ऊपर यह रुकावट क्यों है? चौबीस नहीं अड़तालीस घंटे भी हो जायें तो कोई बात नहीं, खा सकता नहीं, क्योंकि मेरी जाति चली जायेगी – यह उसे अभिमान रहता है।

जैसे 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस बात की अविद्या जब होती है, तब चीज़ों की कामना होती है उसी प्रकार 'मैं आत्मस्वरूप हूँ' यह भूलता हूँ तभी अनात्मा मेरी इच्छा के विषय बनते हैं। अन्यथा मैं आत्मा हूँ, अनात्मा की इच्छा मैं कैसे कर सकता हूँ! आत्मा की अविद्या से, अज्ञान से कामना आती है। अविद्या, काम, कर्म यही बन्धन का मार्ग है। जैसे हमने अविद्या को परमेश्वर के ऊपर किया तो वह अविद्या हटती है ऐसे ही कामना की निवृत्ति भी परमेश्वर ही करते हैं। कामसंहार की लीला बताते हैं–

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः।।१५।।

(पदच्छेदः)

असिद्धार्थाः न एव क्वचित् अपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनः यस्य विशिखाः।
सः पश्यन् ईश ! त्वाम् इतर–सुर–साधारणम् अभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः।।

(सान्वयार्थः)

ईश! = हे ब्रह्माण्ड का शासन करने वाले! **यस्य** = जिस **नित्यं** = हमेशा **जयिनः** = जीतने वाले (कामदेव के) **विशिखाः** = बाण **सदेवासुरनरे** = देवता, राक्षस, मनुष्य युक्त **जगति** = संसार में, **क्वचिद्** = कभी किसी पर **अपि** = भी **असिद्धार्थाः** = अपने कार्य किये बिना **निवर्तन्ते** = वापस लौटते **एव** = ही **न** = नहीं, **सः** = (ऐसा प्रतापी) वह **स्मरः** = कामदेव **त्वां** = आपको **इतरसुरसाधारणम्** = अन्य देवताओं के समान, **पश्यन्** = समझने के कारण **स्मर्तव्यात्मा** = [1](उसका शरीर) केवल स्मरण का विषय **अभूत्** = हो गया (अर्थात् वह मर गया) **हि** = (और यह उचित भी है) क्योंकि **वशिषु** = शरीर, इन्द्रिय, मन को वश में करने वालों का **परिभवः** = अपमान **पथ्यः** = लाभदायक **न** = नहीं होता।

(१–कामदेव सभी को पीडित करने में समर्थ है, अतः उसको बड़ा घमण्ड था। जब तारकासुर किसी से भी नहीं मरा तो देवताओं ने सोचा कि महादेव जी के पुत्र द्वारा ही इसका वध हो सकता है। लेकिन भगवान् शंकर उस समय समाधिस्थ थे, अतः देवताओं ने कामदेव को उन्हें जगाने भेजा। अपनी सारी शक्तियों के साथ उसने महादेव जी पर आक्रमण किया। समाधि में विक्षेप हुआ। भगवान् शंकर के नेत्र खुल गये। चारों तरफ नजर डालने पर पता लगा कि यह कामदेव की उद्दण्डता थी। कामदेव गर्व में भूल गया था कि उन महादेव की कृपा से ही वह जगद्विजयी बना था। तीसरा नेत्र खुला और क्षण भर में उस जगद्विजयी की जगह पर केवल भस्म की ढेरी उस कामदेव की यादगार रह गयी।)

भगवान् शंकर सती के मरने के बाद हिमालय में, समाधि में बैठ गये। इसी बीच सती हिमालय के घर में उत्पन्न हुई। अभी वह बच्ची ही थी कि उसने जिद

पकड़ ली कि वह भगवान् शंकर की सेवा में रहेगी। हिमालय ने समझाया परन्तु उसने जिद नहीं छोड़ी। हिमालय उसे भगवान् के पास लेकर गये। हिमालय में ही भगवान् शंकर रह रहे थे, बड़े प्रेम से हिमालय से पूछा, 'कैसे आये? क्या बात है?' हिमालय ने कहा, 'यह मेरी पुत्री आपकी सेवा में रहना चाहती है।' भगवान् शंकर ने कहा, 'अरे! मैं यहाँ समाधि का अकेले अभ्यास करने वाला। यह यहाँ क्या करेगी! लड़की का यहाँ काम नहीं है।' हिमालय ने कहा कि 'मैंने समझाया पर मानती ही नहीं।' शंकर ने कहा 'ले जाओ।' अब पार्वतीजी ने भगवान् शंकर से प्रश्न करना शुरु किया 'क्यों मुझे जाने को कहते हो?' काफी देर तक प्रश्नोत्तर हुआ, भगवान् शंकर अन्त में मान गये 'हाँ, तुम मेरी सेवा में रह सकती हो; परन्तु जैसा मैंने तुमसे बातचीत में कहा कि तुम मेरे किसी विक्षेप का कारण मत बनना।'

हिमालय पार्वती को वहाँ छोड़कर चले गये। शंकर जी की सेवा पार्वती करने लगीं। रोज़ प्रातःकाल पूजा की सारी व्यवस्था कर देती; वहाँ की व्यवस्था नियम से सम्हालने लगी। धूनि के लिये लकड़ी की व्यवस्था कर देना, जल लेकर आ जाना- सब विधिवत् करती थी। भगवान् शंकर अपने उसी भाव में रहे। कई वर्ष बीत गये। पार्वती भी जवान हो गई। परन्तु भगवान् शंकर के मन में कोई बात नहीं, 'ठीक है, सेवा कर रही है'।

इधर तारकासुर बली हो गया था। सारे देवताओं को सताने लगा। तारकासुर को वरदान था कि भगवान् शंकर के पुत्र के द्वारा ही वह मारा जायेगा। ऐसा भगवान् शंकर ने उसे वरदान दे दिया था। यदि भगवान् शंकर पार्वती से विवाह करने को प्रवृत्त न होवें तो आगे पुत्र कैसे होगा? पुत्र नहीं होगा तो तारकासुर नहीं मरेगा। सब देवताओं ने कामदेव से कहा कि 'तुम वहाँ जाकर भगवान् शंकर के मन में कामना उत्पन्न करो।' पहले तो कामदेव ने कहा 'महाराज! हमें क्यों आप लोग भेज रहे हैं?' पर जब किसी से काम लेना होता है तब उसकी खूब प्रशंसा की जाती है जिसे राजस्थानी में 'चंग चढ़ाना' कहते हैं। 'तुम्हारे जैसा कौन है? तुम्ही यह काम कर सकते हो। तुम्हारे सिवा यह काम दुनिया में और कौन कर सकता है। तुम नहीं करोगे तो यह काम हो ही नहीं सकता है।' यों

उसकी खूब प्रशंसा की। 'असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे।' 'तुम्हारे बाण देव-असुर-मनुष्य आदि किसी को प्रभावित न करें ऐसा हो नहीं सकता। जो भी हैं उन सबको तुम अपने बाणों से अवश्य बींध सकते हो। तुम कभी भी निवृत्त नहीं होते, अपना काम किये बिना। तुम्हारे बाण जहाँ भी जाते हैं जीतते हैं।'

जब आदमी की प्रशंसा होती है तब वह सोचता है कि 'मैं कर सकता हूँ।' कामदेव तैयार हो गये फिर भी घबरा रहे थे। कामदेव शंकर जी की तपःस्थली में गये तो कोयल कूजने लगी, पपीहा बोलने लगा, असमय में ही आम की मंजरी तैयार हो गयी। ये सब कामदेव के सहारे हैं। चारों तरफ का वातावरण शृंगार-रस से भर गया। भगवान् शंकर तो समाधि में बैठे थे। इसने अपना बाण खींचकर मारा। उस बाण के लगते ही भगवान् शंकर की समाधि थोड़ी-सी खुली क्योंकि जैसे ही कामना आती है, वैसे ही समाधि की स्थिति में चांचल्य आता है। परन्तु समाधि अभी पूरी नहीं खुली, भगवान् शंकर की दाहिनी आँख के अन्दर अभी भी समाधि की खुमारी भरी हुई थी। जैसे सोकर उठते हो, तो थोड़ी देर के लिए नींद की खुमारी रहती है। जग भी गये, चल भी रहे हैं, फिर भी अन्दर ही अन्दर थोड़ी-सी नींद की अनुवृत्ति रहती है। अथवा भाँग पी लो, अफीम खा लो; उसका नशा उतर जाता है फिर भी उसका थोड़ा-सा नशा रह जाता है। उसे खुमारी कहते हैं।

एकं योगसमाधिना मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या जघनस्थलस्तनतटे शृंगारभारालसत्।
अन्यद् दूरनिरस्तचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयम् पातु वः ॥

दाहिनी आँख निर्विकल्प समाधि से अभी पूरी खुली नहीं है। बायाँ नेत्र खुला। पार्वती के अंगों को देखते हुए काम बाण के प्रभाव से उसमें शृंगार का भाव आया। अभी तक पार्वती को देखकर उनमें शृंगार का भाव कभी नहीं आया था, आज भाव आया। भाव आते ही भगवान् ने सोचा कि 'इतने दिन से यह सेवा कर रही है। इसके मन में तो कुछ नहीं होगा। मेरे मन में भी कुछ होने की सम्भावना नहीं। इसलिए किसी बाहरी कारण ने यह किया है।' तो तीसरा नेत्र

इधर-उधर देखने लगा। जैसे ही भगवान् शंकर की आँख इधर-उधर देखने लगी वैसे ही कामदेव ने अपने धनुष बाण नीचे फेंक दिये कि पता न लगे कि मैंने क्या किया। पर भगवान् शंकर के तीसरे नेत्र ने देख लिया तो क्रोध की अग्नि से कामदेव भस्म हो गया। जो देवता मदद करने आये थे, वे कह ही रहे थे, 'अरे! बात सुनिये, बात सुनिये भगवान्!' लेकिन 'भस्मावशेषं मदनञ्चकार' तब तक तो मदन भस्म की ढेरी हो गया।

तीनों भिन्न गुण उनके अन्दर एक साथ हैं। दाहिनी आँख के अन्दर अभी भी समाधि की खुमारी है, सत्त्व गुण है। बायीं आँख शृंगार के भार से अलसायी हुई है अत: रजोगुण है। और तीसरा नेत्र जो मदन को जला रहा है, उसमें तमोगुण है। एक साथ ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण कहीं और देखने को नहीं मिलते हैं। इसलिए एक जगह शान्त रस, एक जगह वीर रस है, एक जगह शृंगार रस है। तीनों विरोधी रस एक साथ मौजूद हैं।

कामदेव का क्यों ऐसा हाल हुआ? उसने यह समझ लिया कि, 'देव, असुर, नर इन्हीं में से ये भी कोई होंगे, दूसरे साधारण देवों की तरह ये भी देव होंगे।' यह नहीं समझा कि देवाधिदेव महादेव कोई साधारण देव नहीं है। दूसरे देवों की तरह आपको समझा उसी का नतीजा हुआ कि कामदेव केवल याद की ही चीज़ रह गये, क्योंकि भस्म हो गये, शरीर से तो रहे नहीं। पृथ्वी लोक में कोई व्यक्ति मर जाता है तो यही कहते हैं कि 'वह तो गया, बस उसकी याद ही रह गयी है।' इसी तरह कामदेव 'स्मर्तव्यात्मा' याद की चीज रह गये। फिर देवताओं ने बहुत प्रार्थना की तो भगवान् शंकर ने कहा कि 'जो जल गया सो तो जल गया, अब यह अनंग होगा। बिना शरीर के जो कुछ कर सकता है, करेगा। शरीर तो वापस आ नहीं सकता।' इसलिए कामका एक नाम ही 'अनंग' हो गया, जिसका 'कोई अंग नहीं।

इस प्रकार जब कामना ईश्वर को विषय करती है तो जल जाती है। बाकी जहाँ जायेगी, वहाँ कामना विजयी ही होती है पर जब कामना परमात्मा को विषय करती है, तुम्हारी इच्छा परमेश्वर को विषय करती है, तब वह कामना जल जाती है। इसलिए छान्दोग्य उपनिषद् कहती है-'आत्मकामस्त्वाप्तकामः।' आत्मा की

कामना होने पर आप्तकाम हो जाता है, सारी कामना खत्म हो जाती है। जैसे अज्ञान नीलकण्ठ परमेश्वर की तरफ जाने पर नष्ट हो जाता है, वैसे ही कामना भी परमेश्वर को विषय करने पर नष्ट हो जाती है। उसके बाद व्यवहार में जो कामना प्रतीत होती है, वह कामना नहीं है कामना का आभास है। थाली में रोटी आई, रोटी को खा रहे हो। परन्तु वहाँ कामना नहीं है, कामाभास है। कामना काम्य विषय की ओर प्रवृत्त करती है। जब कामना तुम्हें प्रवृत्त नहीं करती, केवल भोगमात्र देती है, भोग कराती है, तब वह कामाभास है। प्रारब्ध भोग भोगने कें लिए कामाभास को ला सकता है, कामना की उत्पत्ति की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए कहा, 'स्मर: स्मर्तव्यात्मा' यादमात्र रह गयी। 'पहले रोटी सामने आई थी, भूख लगने पर खाई गई थी' - इसी स्मृति से वह दाल-रोटी खा लेता है। कामना काम करती है पर स्मृतिमात्र से। जब कामना होती है तब विषयभोग से वासना बनती है, कामाभास से विषयभोग होने पर भी वासना नहीं बनती।

अब इस लीला का तात्पर्य बतलाते हैं, 'न हि वशिषु पथ्य: परिभव:।' 'वशिषु' जिसने अपने मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया है उनको परिभूत करने, हराने की जो कोशिश है वह 'पथ्य: न' कभी भी तुम्हारे लिये पथ्य नहीं होती, अर्थात् तुम्हारे को नष्ट करने वाली होती है। जिस प्रकार जिस व्यक्ति को संग्रहणी का रोग है उसे यदि तुम बढ़िया दाल का हलवा खिलाओ कि ताकत आयेगी, तो ताकत नहीं आयेगी बल्कि खाकर और ज्यादा पेट खराब होगा, ज्यादा बीमार पड़कर कमजोर हो जाएगा। अत: उसके लिए वह पथ्य नहीं है। जिसका पेट ठीक है, जठराग्नि प्रबल है, उसे तुम खिलाओगे तो उसे वही हलुआ ताकत देगा। माँ के दो बच्चे हैं। एक के लिए माँ खिचड़ी बनाती है, एक के लिए दाल का सीरा बनाती है। उसको उनमें किसी के प्रति द्वेष नहीं है। जो खिचड़ी खा सकता है, उसके लिए खिचड़ी बनाती है, जो दालका सीरा खा सकता है, उसके लिए दाल का सीरा बनाती है। जो इस बात को नहीं समझेगा वह कहेगा, 'अरे! इसको भी तो थोड़ा सीरा दो, बेचारे को!' पर वह उसको और नुकसान करेगा।

पथ्य वह चीज़ है जो तुम्हें पुष्ट करे। अपथ्य वह होता है, जो तुम्हें पुष्ट न करे। यदि तुम किसी को हराने जाते हो, और तुम हरा देते हो तब तुम पुष्ट

होते हो, और अगर नहीं हरा पाते तो तुम खुद ही नष्ट होते हो, हारते हो। जो वशी है, जिसने मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया है, उसको कोई नहीं हरा सकता है। इसलिए उसको हराने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए। कामदेव ने यही किया। जो इतना बलवाला था, जब वही कामदेव खत्म हो गया तब दूसरा कोई वशी को समाप्त करना चाहेगा, तो उसका हाल और बुरा होगा ही। इसलिए कहा, 'नहि वशिषु पथ्यः परिभवः' जिस व्यक्ति को तुम पराभूत करना चाहो, पहले समझ लो कि वह वशी तो नहीं है, सब चीजों को अपने वश में करके बैठा तो नहीं है। तभी उसको पराभूत करने को प्रवृत्त होना चाहिए। अन्यथा अपने ही नाश का कारण होता है। यह इस लीला का तात्पर्य है।

श्लोक – १६

नीलकण्ठ की लीलाद्वारा अविद्या किस प्रकार आरोपित होती है, यह बताया। कामदहनद्वारा कामना की सर्वथा समूलनाश की लीला बतायी। अब ज्ञान रूप गंगा के अवतरण की लीला बतायेंगे परन्तु उसके पहले यह समझाते हैं कि जब परमेश्वर रक्षा के काम में प्रवृत्त होता है, तब रक्षा के काम में भी लोगों को कुछ कष्ट हो जाता है। लोक में भी देखने में आता है : राजा का प्रयत्न रहता है कि लोककी रक्षा होवे, सब लोगों की रक्षा होवे। परन्तु उसके लिए जो युद्धादि किये जाते हैं, उसमें जो धनादि का खर्च होता है उस सब के कारण लोगों को कुछ कष्ट हो ही जाता है। अतः बहुत बार ऐसा लोग कह देते हैं, 'इस युद्ध से क्या फायदा।' राजा अपने लाभ के लिए युद्ध तो कर नहीं रहा। सारी प्रजा के लिये कर रहा है। क्योंकि जब शत्रु आकर लूटेंगे तो वे ही लोग कहेंगे, 'अरे! राजा ने रक्षा नहीं की!' उस रक्षा में प्रवृत्ति करने पर जब कष्ट होता है तब कहने लगते हैं कि 'अरे! यह करने से क्या फायदा!'

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता।।१६।।

(पदच्छेद:)

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदम्
पदम् विष्णोः भ्राम्यद्–भुज–परिघ–रुग्ण–ग्रहगणम्।
मुहुः द्यौः दौस्थ्यम् याति अनिभृत–जटा–ताडित–तटा
जगद्रक्षायै त्वम् नटसि ननु वामा एव विभुता।।

(सान्वयार्थ:)

(नटराज!) = (हे नटराज शंकर!) **त्वं** = (जब) आप **जगद्रक्षायै** = संसार की रक्षा के लिये (कालबल नामक राक्षस को मोहित करने के लिये) **नटसि** = ताण्डव नृत्य करते हैं (तब) **मही** = पृथिवी **पादाघाताद्** = ताल देने के लिये की हुई पैर की चोट से **सहसा** = अकस्मात्, **संशयपदं** = अपने बचने के बारे में शंका को (अर्थात् मैं बचूँगी या नष्ट हो जाऊँगी) **व्रजति** = प्राप्त हो जाती है। **विष्णोः** = (तथा) भगवान् विष्णु का **पदम्** = लोक (वैकुण्ठ) और सारे ग्रह भी **भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्** = अत्यन्त मजबूत और लम्बी शूलसदृश भुजाओं के घुमाने से घबरा जाते हैं। **द्यौः** = आकाश **अनिभृतजटाताडिततटा** = खुली हुई जटा का भाग एक देश में लग जाने के कारण **मुहुः** = बार–बार **दौस्थ्यम्** = अस्थिर **याति** = हो जाता है। **ननु** = अहो **विभुता** = ऐश्वर्य **वामा** = विपरीत **एव** = ही फल, देता है। (अर्थात् रक्षा के कार्य में भी लोगों को कुछ कष्ट हो ही जाता है। जैसे किसी राजा के द्वारा प्रजा को बचाने के लिये युद्ध करने पर भी प्रजा को कुछ कष्ट हो ही जाता है।)

कालबल असुर का संहार करने के लिए भगवान् शंकर ने ताण्डव नृत्य किया। कालबल राक्षस को अपने पैर के नीचे दबाकर उन्होंने ताण्डव नृत्य किया। नटराज की मूर्ति देखोगे तो उसमें कालबल राक्षस पर भगवान् का एक पैर है। दूसरा पैर नृत्य की मुद्रा में ऊपर उठा है। नटराज की मूर्ति नृत्य कर रही है। ताण्डव नृत्य को करते समय पैर की ठुमक भी होगी। पैर को ताल के लिए नीचे दबायेंगे, तभी ठुमक होगी, नाच होगा। जब वह परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर थोड़ी–सी ठुमक मारता है तब पृथ्वी उसके पैर के आघात से 'संशयपदं व्रजति' 'मैं रहूँगी या पाताल में चली जाऊँगी' ऐसे संशय में पड़ जाती है! उस समय पृथ्वी

पर रहने वालों का क्या हाल हो रहा होगा! अभी तुर्किस्तान में थोड़ा-सा धक्का आया तो पचास हजार आदमी मर गये। सोच रहे होंगे क्या भयंकर काण्ड हो गया जबकि थोड़े-से हिस्से में ठुमक ही हुई है। नाचने में हाथ भी ऊँचे करने पड़ते हैं। भगवान् के हाथ मानों भाले की तरह हैं, अंगुलियाँ शूल की तरह निकलती हैं। उनके द्वारा सारे ग्रहगण भी रुग्ण हो रहे हैं, अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं। और हाथों के आघात से भगवान् विष्णु का परमपद वैकुण्ठ भी गिरा-सा हो रहा है, वैकुण्ठ और सारे ग्रह बस अब खत्म हुआ ही चाहते हैं। क्योंकि उनके हाथ के घुमाव से मानों भारी भाला लग गया हो।

जैसे हाथ चलेगा, पैर चलेगा वैसे सिर भी तो चलेगा। नृत्य करेंगे तो सारा शरीर हिलेगा। उनकी जटा खुलकर इधर से उधर जा रही है; फैली हुई जटाका झटका लगता है तो आकाश दुःस्थित हो रहा है, लगता है कि आकाश खत्म हो जाएगा, आकाश टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। बारबार जब जटा इधर से उधर जाती है तब आकाश मानों समाप्त होने को हो रहा होता है, दुःस्थित हो जाता है, स्थित नहीं रह पाता। जब आकाश की, वैकुण्ठ की, पृथ्वी की यह स्थिति है तब प्राणियों का क्या हो रहा होगा यह तो कल्पना ही कर सकते हैं।

कालबल राक्षस जगत् को नष्ट करने में प्रवृत्त हो रहा था अतः उसे नियंत्रित करने के उद्देश्य से आप जगत् की रक्षा के लिए ही नाच रहे हैं परन्तु 'वामैव विभुता', आपका जो वैभव है, उस वैभव के कारण लोग यह समझते हैं कि ये सब चीज़ें नष्ट होने जा रही हैं। इसलिए प्रतिकूल ही है वैभव भी।

राक्षस का संहार करने के लिए जैसे बाह्य नृत्य हो रहा है वैसे ही सबके हृदय में भी शिव का नृत्य हो रहा है। आगे ज्ञान का अवतरण होना है परन्तु ज्ञान के अवतरण के पहले कालबल राक्षस का नाश होना है। शरीर में मूलाधार के अन्दर पृथ्वी तत्त्व स्थित है। शरीर के अन्दर जो पार्थिव तत्त्व है वह अपने अन्दर की साधना के बल से 'शरीर रहेगा या नहीं रहेगा' इस संशय में है क्योंकि जब मूलाधार शुद्ध होता है तब मनुष्य के शरीर का पार्थिव तत्त्व विशृंखलित होता चला जाता है, काया अत्यन्त क्षीण हो जाती है। साधना की तरफ़ जब बढ़ते हैं तब शरीर के अन्दर का पृथ्वी तत्त्व क्षीण होने लगता है।

इसलिए श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा कि योग की जब प्रथम प्रवृत्ति होती है तब शरीर लघु हो जाता है क्योंकि पार्थिव तत्त्व कम होता जाता है।

हार्दाकाश रूप वैकुण्ठ के अन्दर भगवान् विष्णु हैं। जब मूलाधार से ऊपर हृदय के अन्दर जाता है तब वहाँ हार्दाकाश की भी दुःस्थिति होने लगती है। जब योग में आगे बढ़ता है तब ऐसी मन की उठापटक प्रारम्भ हो जाती है कि लगता है कि यह कभी स्थिर होगा भी कि नहीं। अध्यात्म रास्ते के अन्दर यह 'काला गलियारा' है। साधक को इससे गुजरना पड़ता है। तब वह सोचता है कि 'सब कुछ चला जा रहा है, मैं मन में कुछ भी स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ।' जब उसमें से आगे निकल जायेगा, तब स्थिरता ऐसी हो जाती है कि हटती नहीं। क्योंकि अनादिकाल से जितने संस्कार मन में पड़े हुए हैं, वे मथे जाते हैं। जिन चीजों को हम कभी नहीं सोचते हैं कि वे हमारे अन्दर हैं, वे विचार आने लगते हैं और बड़ा आश्चर्य होता है कि ये कहाँ से आ गये!

कुछ अन्य मत-मतान्तर वाले मानते हैं कि शैतान इन विचारों को हमारे अन्दर ले आता है। अन्य मत वाले दो सामर्थ्यवालों को मानते हैं, एक ईश्वर और एक शैतान। पारसी लोग 'अहुर्मजदा' और 'अर्हिमान' दो को मानते हैं। इसी प्रकार 'गॉड' और 'डेविल' ईसाई लोग मानते हैं। अल्लाह और शैतान मुसलमान लोग मानते हैं। अपने यहाँ इसे देवासुर संग्राम से बताया गया है। मूलतः फर्क है कि उनके यहाँ दो शक्तियाँ हैं, पर अपने यहाँ एक ही कश्यप महर्षि की संतान दोनों हैं। अतः अपने यहाँ स्रोत एक ही है कश्यप महर्षि। कश्यप का अर्थ करते हुए निरुक्तकार यास्कने कहा है, 'पश्यति कम् इति पश्यकः पश्यंक एव कश्यपः'-जो आनन्द रूप परब्रह्म को देखता है वह पश्यक है। पश्यक को ही वर्ण व्यत्यय के द्वारा कश्यप कहा जाता है। अतः वह एक ही ज्ञान स्वरूप, देव और असुर दोनों रूपों में है। एक श्लोक पहले भी नीलकण्ठ लीला में कहा था, 'सदेवासुरनरे' देव, असुर, नर तीनों को वह हालाहल विष जला रहा था। अतः हम यह नहीं कहते कि हमारे अन्दर इन दुर्भावनाओं को लानेवाला कोई और है वरन् हम ही हैं।

अनादिकाल से हमारे अन्तःकरण में कई सारे संस्कार पड़ते रहते हैं। वे

संस्कार दबे हुए हैं। जब साधना में अन्तःकरण को प्रवृत्त करते हैं तब वे सब संस्कार बाहर आते हैं, तभी नष्ट होंगे। जिस प्रकार कपड़े पर खूब दाग लगे हों तो साबुन के झागद्वारा उस मैल को बाहर निकाल दिया जाता है, फिर पानी से धो दिया जाता है। झाग के द्वारा पहले उसको निकालना पड़ता है। बहुत से इस बात को नहीं जानते हैं कि झाग कितना जरूरी होता है। वे साबुन लगाकर पानी से निकाल देते हैं। इससे कपड़ा साफ नहीं होता है। जितना उसमें झाग लगाओगे, उतना ही वह मैल को ऊपर लायेगा, तब वह खत्म होगा। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरण के अन्दर जितना मैल है, वह तब बाहर निकल रहा होता है। साधक सोचता है 'पता नहीं मैं कितना बुरा हो गया हूँ।' दूसरे मतवाले सोचते हैं कि कोई हमें बिगाड़ रहा है, शैतान हमें इधर-उधर ले जा रहा है। शैतान तक नहीं जाते तो और चीजें ढूँढ़ते रहते हैं-'इस आदमी के घर खाया, अतः मेरी बुद्धि खराब हो गयी' आदि। दूसरे कारण को ढूँढ़ते रहते हैं लेकिन और कोई कारण नहीं, यही कारण है कि साधना में तुम हृदय तक पहुँचे हो।

जब उससे भी ऊपर जाता है तब 'द्यु' -भ्रूमध्य पर पहुँचता है। जटा हमारे यहाँ तप को बताती है। भ्रूमध्य में पहुँचने पर तीव्र तापकी उत्पत्ति होती है। बहुत से लोग ध्यान लगाते हैं, फिर कहते हैं 'महाराज सिर गरम हो जाता है'। ध्यान करोगे तो सिर में गरमी होती है। प्रारंभ में तो थोड़ी गरमी होती है, पर जब साधन आगे करोगे तब पूरी तरह से वहाँ ताप होगा। तभी पूरी तरह से दोष निवृत्त होकर अन्त में जीव सहस्रार में पहुँचेगा।

यद्यपि वहाँ पहुँचने के लिए इन तीनों में से जाना पड़ता है, यह है जगद्रक्षा के लिए, तथापि शरीर के लाघव होने पर लगता है कि शरीर चला जायेगा। फिर मन में सारी चीजें आने पर लगता है कि 'मेरा मन नष्ट हो जायेगा।' अन्ततोगत्त्वा जहाँ पर अहं है, वहाँ पहुँचता है तब लगता है कि यह 'अहं' जल जायेगा। पर ये चीज़ें जब नष्ट होंगी, तभी रक्षा हो पायेगी। कालबल राक्षस से परमेश्वर जब तक रक्षा नहीं कर लेता, तब तक हम इस काल से निकल नहीं पाते। रक्षा हमारी तभी होवे, जब हम कालबल से बाहर निकलें। समय के द्वारा हम हमेशा बँधे हुए हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान इनसे बँधे रहते हैं। हैं तो हम

नित्य सद्रूप। हमें न तो 'आसीत्' 'था' कहा जा सकता है, न 'भविष्यति' 'होगा' कहा जा सकता है। परन्तु कालबल के कारण हम में हेतु और फलका भाव बनता रहता है। इसलिए भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं, 'यावद् हेतुफलावेश: तावद् हेतुफलोदय:।' जो चीज पहले प्रतीत होती है, वह कारण लगती है, जो बाद में प्रतीत होती है, वह कार्य लगती है। जब तक हमें यह आवेश है, आग्रह है कि कारण और कार्य हुआ करते हैं तब तक हमें एक चीज पहले और एक चीज बाद में लगा करती है। अंत में इस बात का पता लग जाता है कि कार्यकारण-भाव है नहीं, नित्य अखण्ड स्वरूप सत्य है। सत्य में न तो कार्य है न कारण है। सत्य अपने नित्य स्वरूप में स्थित है।

जब तक उस कालबल का नाश नहीं होता तब तक नटराज का नृत्य होता रहता है। ताण्डव शब्द बनता ही है 'तडि आघाते' धातु से। हम शरीर से चिपटे हुए हैं, मन से चिपटे हुए हैं, अहंकार से चिपटे हुए हैं, इनसे चिपटे हुए होने के कारण ही तो हम बन्धन में हैं। इनके ऊपर बिना आघात लगे इनसे हमारी रक्षा कैसे होगी? इसलिए सारी साधनाओं में सबसे पहले हम लोग विवेक को रखते हैं। क्या नित्य है, क्या अनित्य है, क्या सत्य है, क्या असत्य है, इसका विवेक। शरीर, मन, अहंकार को हम अनित्य देखकर उससे स्वयं को अलग समझ सकते हैं। शरीर की अनित्यता प्रतिदिन दीख रही है। किसी दिन ध्यान में बैठते हैं तो घंटे-भर बाद भी उठना पड़े तो खराब लगता है। और अगले ही दिन बैठते हैं तो घंटे भर तक झगड़ा करते रहते हैं, पर मन एक मिनट भी बैठता नहीं है। मन भी अनित्य है। जिस दिन ध्यान लग जाता है उस दिन मूँछों पर ताव देते हैं कि बस अब स्थिर हो गया, अब ठीक हो गया! और अगले दिन ही सारी पोल खुल जाती है। अत: वह भी अनित्य है। अनित्य है अर्थात् नष्ट होने वाला है। सबसे अन्त में अहं है। आचार्य शंकर कहते हैं,

'सन्त्यन्ये प्रतिबन्धा: पुंस: संसारहेतवो दृष्टा:।
तेषाम् एकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकार: ।।'

बहुत से प्रतिबन्धक हैं, पर उन सबकी जो जड़ है, वह है अहम्। लगता है 'मैं तो हमेशा ही बना रहूँगा', पर रोज गहरी नींद में जाते हो, वहाँ कहाँ

अहंकार की वृत्ति है? इसलिए वह भी अनित्य है। जब इन तीनों की अनित्यता, असत्यता को समझ लेते हैं तब ये जो आघात होते हैं ताण्डव नृत्य के समय, उनसे हम घबराते नहीं, प्रसन्न होते हैं कि हमारी रक्षा होने जा रही है। जब तक इनसे चिपटे रहते हैं तब तक इनके पादों का आघात लगते ही घबराने लगते हैं। भगवान् शंकर के पादों का आघात हमारी रक्षा के लिए है। यदि विवेक की कोई कमी है तो जैसे ही आघात लगता है, वैसे ही घबरा जाता है।

श्लोक – १७

कालबल राक्षस की लीला के बाद ज्ञान का अवतरण होता है। जब ये तीनों भाव हटते हैं, अहंकारात्मिका वृत्ति मन और शरीर– इन तीनों अध्यासों की जब निवृत्ति होती है तब ज्ञान का अवतरण होता है।

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।
जगद् द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः।।१७।।

(पदच्छेदः)

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहः वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।
जगद् द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतम् इति
अनेन एव उन्नेयम् धृतमहिम दिव्यम् तव वपुः।।

(सान्वयार्थः)

वियद्व्यापी = आकाश भर में व्याप्त **तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः** = ताराओं के प्रतिबिम्ब से फेन (बुदबुदों) की शोभा बढ़ गयी है जिस **वारां** = जल के **प्रवाहः** = प्रवाह की, **ते** = (वह गंगा) आपके **शिरसि** = शिर में **पृषतलघुदृष्टः**[1] = बिन्दु से भी छोटी प्रतीत होती थी। **तेन** = उसी गंगाजल ने **जगत्** = संसार को **जलधिवलयम्** = जलसमुद्र से घेरकर, **द्वीपाकारम्** = द्वीप के आकार का **कृतम्** = बना दिया **अनेन** = इससे **एव**[2] = ही **तव** = आपके **दिव्यम्** = सर्व देवताओं के शासक **वपुः** = शरीर

ने **धृतमहिम** = (कैसी) विशाल महिमा को धारण किया है **इति** = इसका **उन्नेयम्** = पता लगाया जा सकता है।

(१—गंगावतरण के समय भगवान् शंकर ने गंगा को अपनी जटा में रख लिया था और वहाँ वह बिन्दु के समान दीखती थी। अगस्त्य ऋषि के पी लेने के कारण खाली हुए समुद्र को उसी गंगा ने फिर से भर दिया।

२—यह एक ही प्रमाण आपकी महत्ता के लिये पर्याप्त है।)

सगर राजा ने अश्वमेध यज्ञ किया। अश्वमेध से किसी विशिष्ट चीज़ की प्राप्ति चाहते थे। उनके साठ हजार पुत्र थे। सभी पढ़-लिखकर तैयार हो रहे थे। वे सब अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति के लिए अश्वकी रक्षा में जा रहे थे। इन्द्र ने घोड़े की चोरी की। चुराकर बंगाल की खाड़ी के पास जहाँ कपिल मुनि तपस्या कर रहे थे, वहाँ बाँध दिया। घोड़े को ढूँढते-ढूँढते वे राजपुत्र वहाँ पहुँचे। बिना विचारे कपिल महर्षि के सिरपर दोष लगा दिया कि इसी ने चोरी की होगी। उन्होंने कपिल महर्षि की समाधि को भंग करने का प्रयत्न किया। नतीजा यह हुआ कि वे साठ हजार सगरपुत्र भस्म हो गये। यज्ञ अपूर्ण रह गया।

चिन्ता यह हुई कि शाप से इस प्रकार मृत्यु हुई अतः इनकी सद्गति कैसे होगी? पता लगाते-लगाते मालूम हुआ कि यदि गंगाजल का स्पर्श हो तो इनकी सद्गति हो सकती है, यही इनके पाप का प्रायश्चित्त है। गंगा तो ब्रह्माण्ड के बाहर विद्यमान हैं। वहाँ से उतारकर कैसे लाया जाये। कई पीढ़ियों तक तपस्या होती रही कि गंगाजी प्रसन्न होकर आवें। पर सफलता नहीं मिली। जिस प्रकार आप लोग धन कमाते हो : एक पीढ़ी ने दुकान की। दूसरे पीढ़ी-वाले ने फैक्टरी खोली। तीसरी पीढ़ीवाले ने सब देशों के अन्दर जा-जाकर काम को बढ़ाया। ऐसे पीढ़ी दर पीढ़ी धन बढ़ता जाता है। इसी प्रकार परमात्मा की कृपा से गंगा को लाने के लिए उन लोगों ने हर पीढ़ी में तपस्या की।

अन्ततोगत्वा भगीरथ से प्रसन्न होकर गंगा ने पूछा कि, 'क्या चाहते हो?' उन्होंने कहा 'आप आवें और हमारे पूर्वजों को तारें।' गंगाजी ने कहा कि 'तुम्हारी तपस्या पूर्ण है, मैं आऊँगी। पर जब मैं ब्रह्माण्ड के बाहर से गिरूँगी, तब इतने ज़ोर से बहूँगी कि पृथ्वी मुझे धारण नहीं कर पायेगी। मैं तो तैयार हूँ, पर

तेरा काम नहीं होगा, क्योंकि पृथ्वी मुझे धारण नहीं कर पायेगी। जब मैं स्थिर होऊँ, तभी न पहुँचूँगी।' भगीरथ ने ब्रह्माजी से उपाय का पता लगाकर भगवान् शंकर की तपस्या की क्योंकि एकमात्र शिव ही उसको धारण कर सकते हैं। शिव भी प्रसन्न हो गये। उनसे भगीरथ ने जब समस्या कही तब उन्होंने कहा, 'ठीक है, मैं धारण कर लूँगा। आने दो गंगाजी को, मैं सिर पर धारण कर लूँगा।'

कोई बड़ा काम करना होता है तो आदमी बड़ी तैयारी से खड़ा होता है। पर भगवान् शंकर तो ऐसे ही साधारण रूप से बैठ गये। गंगाजी ने विचार किया, 'मैं गिरूँगी, और ये ऐसे साधारण-से बैठे हैं। ये सोचते होंगे कि हल्की ही गिरूँगी, जरा ज़ोर से गिरूँ।' पूरे ज़ोर से गंगाजी गिरी। शंकर समझ तो गये पर बैठे रहे, उनके अन्दर कोई फर्क नहीं पड़ा। उनके सिर में जरा ठण्डा-ठण्डा लगा। शरीर में गर्मी तो रहती ही है। ठण्डा लगा तो वहीं उन्होंने उसे बाँध लिया कि, 'यह पानी लगा रहे तो अच्छा है।'

यह लीला पुष्पदन्त बतलाते हैं: ब्रह्माण्ड के बाहर जो गंगाजी थीं, वे सारे आकांश को लपेटे थीं। जब वे भगवान् शंकर की जटा में जाकर बैठीं तब कैसी लग रही थीं? एक बूँद जैसी लग रही थीं। वे तो अपने मन में समझ रही थीं कि 'मैं बहुत बड़ी हूँ।' परन्तु बिल्कुल एक बूँद जैसी लग रही थीं। ये सारे ब्रह्माण्ड के तारे गंगाजल में प्रतिफलित हो रहे थे, प्रतिबिम्बित हो रहे थे, तो ऐसा लग रहा था कि पानी में थोड़ा-सा झाग उठ रहा है। जल का इतना बड़ा प्रवाह आपके सिर के ऊपर एक छोटी-सी बूँद मात्र लग रहा था। गंगाजी में इतना जल है कि इस सारे जगत् को उन्होंने द्वीप बना दिया था, गंगाजल से ही समुद्र भरकर पृथ्वी को लपेटे हुए हैं! प्रातःकाल उठकर हम लोग कहते हैं-

'समुद्रवसने देवि! पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।'

समुद्र उनका वसन है, साड़ी है। उन्हीं के जल से जगत् द्वीपाकर हो गया, द्वीप जैसा हो गया, उसके चारों तरफ पानी हो गया। जो जल आपके सिर में एक बूँद की तरह लग रहा था उसने इस पृथ्वी को लपेट लिया।

थोड़े समय तो भगीरथ रुके रहे कि गंगा अब निकलेगी। पर कैसे निकले? वह तो वहीं घूम रही थी, निकलने की जगह ही नहीं थी। अन्त में भगीरथ ने फिर भगवान् शंकर से प्रार्थना की कि 'महाराज! आप तो अपने ही अन्दर उसे रख़कर रह गये।' तब उन्होंने अपने जटा के हिस्से को ढीला किया, उससे गंगाजी निकली, सगर के पुत्रों का कल्याण किया। जहाँ सगरपुत्रों का उद्धार हुआ वह गंगासागर कहलाता है। आज तक गंगाजी वहाँ लोगों को पवित्र कर रही हैं।

सारी पृथ्वी को घेरनेवाली जो गंगा उसकी एक बूँद जैसी स्थिति हो गयी महादेव की जटा में! इससे ही अन्दाज लगाना चाहिए कि आपका जो शरीर है, उसकी कैसी दिव्य महिमा है! गंगा नदी प्रतीक है। सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके रहनेवाला ज्ञान ही है। ज्ञान ब्रह्माण्ड के बाहर है, क्योंकि नामरूप से परे है। इसलिए उपनिषद् कहती है 'यन्मनसा न मनुते' मन के द्वारा उसको सोचा नहीं जा सकता। उसी की शक्ति से मन सोचता है तो मन उसको कैसे सोच सकता है? ज्ञान आकाश की तरह व्यापक है और नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड से परे है। 'गर' कहते हैं जहर को। सगर अर्थात् जहर के साथ। जीव अज्ञान और कामना के जहर के साथ है, सगर है। मन के कारण जीव की जीवरूपता है। उस मन के अन्दर साठ हजार अर्थात् अनन्त वृत्तियाँ हैं जो सारी उसी की सन्तान हैं। ये सारी कैसे पवित्र होकर कल्याणवाली बनें? स्वरूपत: इन वृत्तियों का जलना जरूरी है। रस्सी जल गई, पर हवा नहीं है तो तुम्हें वहाँ सफेद रस्सी दीखेगी। राख में भी रस्सी के जैसी ऐंठन रहेगी। हवा आयेगी तो राख उड़ जायेगी, पर जब तक हवा नहीं आयेगी, वह वैसी ही दीखेगी। इसी प्रकार प्रारब्ध समाप्ति की वायु आती है तब ये वृत्तियाँ स्वरूप से उड़ जाती हैं। उसके पहले जली हुई होने पर भी ये वृत्तियाँ प्रारब्धभोगकाल में वैसी ही दिखायी देती हैं। ये जो सगर की सन्तानें हैं, ये ज्ञान के द्वारा ही तारी जायेंगी अन्यथा नहीं। जब उस ज्ञान की धारा चलेगी, प्रत्यय-एकतानता चलेगी, तभी तो सगर की इन संतानों का उद्धार होगा। ज्ञान हमारे लिए तो इतनी बड़ी धारा है। किन्तु वस्तुत: परब्रह्म परमात्मा को विषय करनेवाली वृत्ति, परब्रह्म परमात्मा की वृत्ति एक बार में ही अज्ञान को नष्ट कर देती है। ब्रह्म को तुम्हारी वृत्ति बार-बार विषय करती है, ऐसा नहीं है। वहाँ वह बिल्कुल बिन्दु की तरह है; कहना कठिन है कि मन ने विषय किया या नहीं

किया। क्योंकि मन विषय करता है, उसके साथ ही मन खत्म हो जाता है। किया या नहीं किया, पता ही नहीं लगता। फिर भी अज्ञान का नाश हुआ है तो जरूर विषय किया है। जैसे ही ज्ञान होता है, वैसे ही अपना जीवभाव ऐसा हट जाता है मानो हुआ ही नहीं था। ब्रह्म दृष्टि से तो वह अत्यल्प है पर उस वृत्ति को बनाने के लिए जीव को दीर्घ काल तक निदिध्यासन की धारा बहानी पड़ती है। स्वयं परमात्मा की दृष्टि से तो वह बिन्दु की तरह है, छुआ या नहीं छुआ, एक जैसा है, परन्तु साधक की दृष्टि से दीर्घकाल तक ज्ञान का प्रवाह करना पड़ता है, निदिध्यासन करना पड़ता है।

परन्तु निदिध्यासन है उस चरम ज्ञान के लिए, अपरोक्ष ज्ञान के लिए। ऐसा नहीं है कि पहले ज्ञान हो गया और फिर हम ज्ञान का प्रवाह कर रहे हैं। जैसे श्रवण का विधान दर्शन के लिए, मनन का विधान दर्शन के लिए, वैसे निदिध्यासन भी दर्शन के लिए। दर्शन के बाद कुछ और किया नहीं जा सकता। निदिध्यासन का प्रवाह हमारे जीवन को लपेट लेता है। इसलिए उपनिषद् में कहा गया है, 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।' प्रतिदिन कितना चिंतन करें? जब तक नींद न आ जाये, तब तक इसी वृत्ति का प्रवाह करे। और कितने दिन तक करें? जब तक मर न जाये, तब तक करे। क्यों? 'क्वचिद् न अ़वसरं दद्यात्।' थोड़ा भी तुमने बीच में फाँका रख दिया तो, 'कामादीनां मनागपि' काम और क्रोध झट से आ जाते हैं। जब बिल्कुल बीच में जगह नहीं मिलेगी निरन्तर प्रवाह होगा, तब फिर अन्तिम वृत्ति बनती है। ज्ञान का अवतरण किस तरह हुआ यह गंगा अवतरण के द्वारा बताया।

श्लोक – १८

गंगावतरण के माध्यम से परमेश्वर किस प्रकार ज्ञान को उतारता है यह बताया। अब ज्ञान होने पर क्या होता है, इसे बताते हैं

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथांगे चन्द्राकौं रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः।।१८।।

(पदच्छेदः)

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिः अगेन्द्रः धनुः अथो
रथांगे चन्द्राकौं रथचरणपाणिः शरः इति।
दिधक्षोः ते कः अयम् त्रिपुरतृणं आडम्बरविधिः
विधेयैः क्रीडन्त्यः न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः।।

(सान्वयार्थः)

क्षोणी = पृथ्वी को **रथः** = रथ, **शतधृतिः** = ब्रह्मा को **यन्ता** = सारथी, **अगेन्द्रः** = सुमेरु पर्वत को **धनुः** = धनुष, **चन्द्राकौं** = सूर्य और चन्द्रमा को **रथांगे** = रथ के पहिये, **अथो** = और **रथचरणपाणिः** = चक्रपाणि भगवान् विष्णु को **शरः** = बाण **इति** = इस प्रकार **त्रिपुरतृणं** = त्रिपुरासुर रूपी तिनके को **दिधक्षोः** = जलाने की इच्छा वाले **ते** = आपकी **अयम्** = यह **कः** = क्या **आंडम्बरविधिः** = अद्‌भुत आडम्बरपूर्ण तैयारी थी। **खलु** = ठीक ही है, **विधेयैः** = स्वतन्त्रता से **क्रीडन्त्यः** = खेलते हुए **प्रभुधियः** = सर्वेश्वर की संकल्प रूपी बुद्धि **परतन्त्राः** = किसी अन्य के उचितानुचित विचार की अपेक्षा **न** = नहीं रखती।

(लौकिक पुरुष अनायास होने वाले कार्य के लिये बड़ी तैयारी नहीं करते। महादेव जी कटाक्ष से भी त्रिपुरासुर को नष्ट करने में समर्थ होने पर भी इतनी बड़ी तैयारी केवल खेल के लिये करते हैं। यही उनका ऐश्वर्य है।)

त्रिपुरासुरसंहार की लीला बताते हैं। एक बार एक राक्षस ने दीर्घकाल तक तपस्या की। यजुर्वेद कहता है कि तप से तुम बड़ी से बड़ी सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हो। तपवाले को कोई दबा नहीं सकता है, वे दुर्धर्ष होते हैं, उनका धर्षण नहीं किया जा सकता। ये दो चीजें आपस में विरोधी हैं-तप और भोग। तप के अन्दर कष्ट सहन किया जाता है। भोग में कष्ट को हटाने के लिए प्रवृत्ति की जाती है। अतः भोगी तपस्वी नहीं हो सकता, तपस्वी भोगी नहीं हो सकता। तप से जब सामर्थ्य प्राप्त होती है उस समय मनुष्य भोग से दूर रहेगा। परन्तु यदि उसके मन में उद्देश्य भोग है, तब तपस्या सफल हो जाने पर वह तपस्या का उपयोग भोग के लिए करेगा। विवेकी व्यक्ति भी तप करता है और अविवेकी व्यक्ति भी तप करता है। विवेकी तप करता है नित्य फल को प्राप्त

करने के लिए। अविवेकी वही तप करता है अनित्य फल को प्राप्त करने के लिए। तपकाल में दोनों को देखोगे तो एक ही जैसे लगेंगे। परन्तु तप समाप्त होने के बाद दोनों के जीवन में फर्क आ जायेगा। भोगी तप के समाप्त होने के बाद भोग के अन्दर लगेगा। विवेकी चाहे जितनी भोग की सामग्रियाँ उपलब्ध हो जाएँ, पर तप ही करेगा। भोगी कष्ट को सहन करना अच्छा नहीं मानता है, परन्तु कष्ट को सहन किये बिना भोग मिलता नहीं अतः कष्ट सहन करता है।

व्यापारी भी दुकान में बड़ा कष्ट सहन करता है। ग्राहक आता है, चाहे जैसा उसका अपमान करता है, वह सब सहन करता है। तबियत खराब है, बुखार आ गया। फिर भी यदि कोई खास ग्राहक आ गया और किसी ने खबर दी, 'दो लाख का माल लेना चाहता है, आपसे मिलना चाहता है' तो झट से उठकर चला जाता है। यहूदी लोग धन के प्रति बड़े आसक्त होते हैं। एक यहूदी बीमार हो गया था, मरणासन्न था। चिकित्सकों ने कह दिया था कि अब मरने वाला है। उसके नौ बेटे थे। सभी बेटे पास में आ गये। उसने एक-एक को बुलाकर पूछना शुरु किया। पूछता, "कौन है?" बड़ा बेटा बोला, "हाँ जी, पिताजी, मैं हूँ।" यों आठों ने कहा, "मैं यहीं हूँ।" उसने नौवें का नाम लिया और उसने भी कहा, "मैं यहाँ हूँ।" तो वह पिता उठ बैठा; "अरे सब यहाँ आ गये तो दुकान में कौन है?" झटके में उठ बैठा, बस उसी में मर गया। व्यापार में जो लगता है वह भी कष्ट सहन करता है। परन्तु कष्ट सहन करने पर जब धन आता है तब उसका भोग के लिए उपयोग करता है। जो विवेकी होगा वह उसका भोग के लिए उपयोग नहीं करेगा।

आज से पचास-साठ साल पहले तक ऐसे करोड़पति लोग थे जो अपनी धोती में कारी लगाकर पहनते थे पर धर्मशाला बनाते, अन्नक्षेत्र चलाते। ऐसे ही एक सेठ थे। उनके लड़कों ने व्यापार तो खूब बढ़ाया पिता की लगायी दो मिलों के साथ उनकी रसायन की, केमिकल्स की मिल भी हो गयी। लेकिन लड़के विवेकी थे नहीं। अविवेकी धर्म के काम में ही सबसे पहले खर्च की कटौती करता है, अपना भोग नहीं घटाता। लड़कों ने पिता का चलाया क्षेत्र बन्द कर दिया। हमें पता चला तो हमने पूछा, "तुम्हारी तीन मिलें हैं और तुम्हारे काम

इतने बढ़ रहे हैं, तुमने अन्नक्षेत्र बन्द कर दिया सो तो कर दिया, पर धर्मशाला में दस रुपये किस बात के लेते हो?'' कहने लगे, 'मेन्टेनेन्स के लिए, रख-रखाव के लिए। नहीं तो खर्चा कैसे निकलेगा?'' हमने कहा, ''तुम्हारे बाप ने तो बना दिया और तुम्हारे पास धुलाई-पुताई का पैसा नहीं है? क्या घाटा हो रहा है?'' ''नहीं-नहीं, महाराज! आपकी कृपा से सब ठीक है।'' तो फिर यह क्या? अपने भोग के लिए जब आदमी खर्च करता है तो उसको सत्कार्य के लिये हमेशा कठिनाई आती है।

जो तप को श्रेष्ठ समझता है वह भोग को इसलिए नहीं छोड़ता कि उसके पास नहीं है; पास में है, परन्तु भोग नहीं करना है क्योंकि भोग करने की अपेक्षा भोग छोड़ना श्रेष्ठ है। जो भोगी है वह भी दुकान में मेहनत करता है, कि हमारे पास धन आ जाए.तो हम भोग करेंगे। यही असुरों में व सुरों में फर्क है। तपस्या असुर भी करते हैं, पर उनका उद्देश्य भोग करना है। और जो दैवी प्रकृति के लोग हैं उनकी दृष्टि अलग है। कश्यपादि तपस्या करते हैं। वे लोग कैसे हैं? उनके घर में कामधेनु बँधी हुई है, जो चाहो सो उससे मिल सकता है। नन्दनवन में कल्पवृक्ष लगा है, वहाँ बैठो तो जो इच्छा करो वह पूर्ण हो जाती है। ऐसी सब चीज़ों की उपलब्धि होने पर भी कश्यप आदि तपस्या में निरत रहते हैं तो उपलब्ध भोगों कीं अपेक्षा किसी श्रेष्ठ प्रयोजन से ही। यह है उत्तम तपस्या का रूप। सुरों की जो तपस्या होती है, वे कष्ट सहन करते हैं क्योंकि स्वयं अपने में.वह तप को इष्ट मानते हैं, दूसरे ऐसा नहीं मानते हैं।

त्रिपुरासुर ने भी तपस्या की। सारे संसार को वश में करने के लिए उसने बड़ी विलक्षण बात सोची कि 'मरने से कैसे बचूँ'। उसने कहा 'मेरा एक परकोटा सोने का, एक चाँदी का और एक लोहे का हो, तीनों स्वतंन्त्र रूप से विचरने वाले हों वे एक सीध में आयें और उसी स्थिति में उन तीनों को एक बाण से कोई बीधें तब मै मरूँ, अन्यथा नहीं।' इस प्रकार तीन पुरोंको उसने साथ मिला लिया अतः वह त्रिपुरासुर हो गया। यह वर प्राप्त कर उसने देवता, मानव, यक्षों , पर राज्य कायम कर लिया। सबने बहुत प्रयत्न किया उसे हरानेका पर हरा न पाये। सब प्रयत्न करके हार गये तब भगवान् शंकर के पास गये :''महाराज! हम इससे

बहुत परेशान हैं आप कृपाकर इसका नाश कर दीजिए।" भगवान् शंकर तो इच्छामात्र से नाश कर सकते हैं, परन्तु उन्होंने सोचा कि किसी भी बड़े काम को करो तो सबको उसमें महत्त्व मिलना चाहिए। यह काम करनेका उत्तम ढंग होता है, सबको मिलाकर कार्य करने से वह शोभा की चीज होती है। पुराने लोग थोड़ा भी काम करना होता तो सबको मिलाकर सलाह करते थे। वर्तमान काल में हर आदमी अपने को सर्वसमर्थ बतलाना चाहता है। इसलिए पहले यह दृष्टि होती थी कि हम लोगों ने मिलकर निश्चय किया है, हम लोगों ने मिलकर यह काम किया। अब उसकी जगह उसके विपरीत दृष्टि होती है 'मैंने यह काम किया, मेरा यह निश्चय है।'

भगवान् शंकर ने कहा कि 'यदि उसको मारना है तो तुम सब मदद करो, बहुत बड़ा काम है, तुम सब मदद करोगे तो मार सकेंगे'। सबने कहा, 'महाराज! जो-जो काम आप बतायेंगे, वह हम सब करेंगे। उन्होंने कहा कि त्रिपुरासुर को मारने रथ पर बैठकर जायेंगे तो रथ चाहिए। पृथ्वी से कहा कि 'तू रथ बन जा'। सारी पृथ्वी ही रथ बन गयी। भगवान् शंकर को चढ़ कर जाना है तो कोई छोटी-मोटी चीज से तो काम चलेगा नहीं, सारी पृथ्वी होवे तो उनके बैठने के लायक होवे। रथ को चलानेवाला कौन? ब्रह्माजी उसको चलाने वाले बने। धनुष भी तो उनके लायक होना चाहिए। जो सुमेरु पर्वत है, सबसे बड़ा पर्वत, उसको उन्होंने धनुष बनाया। सुमेरु से कहा कि 'तुम धनुष बन जाओ।' सूर्य और चन्द्रमा उस रथ के पहिये बने । चक्र हाथ में रखने वाले भगवान् विष्णु वह बाण बने जो भगवान् शंकर को छोड़ना था। अन्य भी देवताओं को तत्तत् कार्य दिये गये, सबने मिलकर तैयारी की। जब युद्ध स्थल पर पहुँचे तब हरेक के मन में आने लगा कि 'यदि मैं नहीं होता तो त्रिपुरासुर का वध नहीं होता'। पृथ्वी सोचने लगी कि 'मैं नहीं होती तो ये यहाँ आते कैसे?' ब्रह्माजी सोचने लगे कि मैं रथ नहीं चलाता तो युद्ध कैसे होता? भगवान् शंकर समझ गये कि ये समझ रहे हैं कि इन्होंने यह काम किया! शंकरजी ने तो उनको सम्मान देने के लिए ऐसा किया था। जब त्रिपुरासुर सामने आया तब भगवान् शंकर ने जोर का अट्टहास किया, जोर से हँसे। हँसने की आवाज इतनी जोर की थी कि वे तीनों पुर खड़ककर इकट्ठे हो गये! तब सबने सोचा कि 'हमने तो व्यर्थ ही यह सोचा

कि हम युद्ध जिताने वाले हैं।'

इसलिए कहते हैं कि त्रिपुर आपके लिए कैसा था? 'तृणम्', तिनके जैसा था। उसको जलाने के लिए आपको यह सब करने की क्या जरूरत थी? इतना आडम्बर क्यों रचा? आपके लिए वह तिनके जैसा था, यह सब तैयारी क्यों की? कहते हैं, 'प्रभुधियः परतन्त्राः खलु न'। जो अत्यन्त सामर्थ्यवाले होते हैं उनकी धी तुम्हारे सोचने के अनुसार नहीं होती है, परतन्त्र नहीं होती है। उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि तुमको यह समझ आवे कि तुम हर काम लोगों के सहयोग से करो। जहाँ तुम्हें सहयोग की जरूरत नहीं है, वहाँ भी सहयोग से ही काम करो। प्रभुतायोग्य बुद्धि वाले कैसे होते हैं? 'विधेयैः क्रीडन्त्यः'। उनके लिए सब चीजें क्रीड़ासाधन हैं। उनके अन्दर कोई परतन्त्र बुद्धि नहीं होती।

हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर ये तीनों त्रिपुर हैं। स्थूल शरीर जो आँखों से दीख रहा है। सूक्ष्म जो इसको चला रहा है– मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब इसको चला रही हैं। कारण शरीर अज्ञान, अज्ञान के कारण ही ये सब है। यह जो त्रिपुरासुर है उसने तप किया है तभी यह यहाँ मनुष्य जीवन में आया है, उसे इतने सारे भोग उपलब्ध हो रहे हैं। इसने भोग के लिए तप किया तो भोग मिल गये। इसका त्रिपुरभाव कैसे नष्ट होवे? तीनों पुर इकट्ठे होवें स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में जब हम वास्तविकता की दृष्टि से एकता स्थापित करें।

ये तीनों शरीर कहाँ-कहाँ प्रतीत होते हैं? स्थूल शरीर जाग्रत् अवस्था में स्फुट होता है। जब तक हम जागते रहते हैं तब तक स्पष्ट रहता है। यहाँ स्थूल शरीर की प्रधानता है। मन भी यहाँ है, अज्ञान भी यहाँ है, परन्तु वे गौण हैं। जाग्रत् अवस्था के अन्दर मन गौण रहता है, इसलिए शरीर के विधेय रहेगा, शरीर के अनुरूप मन रहेगा। बुखार चढ़ा है, एक सौ चार डिग्री। मनमें चाहे तुम कितनी ही हिमालय की ठंडक में बैठ जाओ, बुखार की गर्मी उतरेगी नहीं। जाग्रत् अवस्था में स्थूल शरीर प्रधान है। स्वप्न अवस्था के अन्दर सूक्ष्म शरीर, मन समझ लो, वह प्रधान है। इसलिए वहाँ तुम्हारा शरीर कुछ विघ्न नहीं डालता है। यहाँ चाहे एक सौ चार डिग्री का बुखार है, मोतीझरा है, कुछ भी नहीं खा सकते। परन्तु स्वप्न में गये हुए हो तो जवान शरीर है, भूख लगी हुई है, चालीस रसगुल्ले एक

के बाद एक खा रहे हैं, बड़ा मजा आ रहा है। स्थूल शरीर कोई रुकावट नहीं डाल सकता। वहाँ मन जो चाहे वह करेगा। वहाँ वही प्रधान है। जब गहरी नींद में जाते हैं वहाँ कारण शरीर प्रधान है, वहाँ अज्ञान है। स्थूल, सूक्ष्म शरीर दोनों ही कारण शरीर में लीन हो जाते है। यों ये अलग-अलग रहते हैं।

इन्हें एक करने का मतलब है कि तीनों की समानता समझ लेना। समानता है कि तीनों मिथ्या हैं, वास्तव में तीनों कभी हैं नहीं। इसका नाम बाध है। त्रैकालिक अत्यन्ताभाव का निश्चय बाध होता है। सीप में जो चाँदी दीखी, वह देखने के पहले भी नहीं थी, जब दीख रही है तब भी नहीं है और जब हमें सींप दीख गयी, तब भी चाँदी नहीं होगी। सींप को देखने पर यह ज्ञान नहीं होता कि 'चाँदी थी, अब सींप हो गयी'। क्या निश्चय होता है? चाँदी न थी, न है, न होगी, है तो यहाँ सींप। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर ये तीनों ही न हैं, न थे, न रहेंगें। एकमात्र अखण्डात्मा है। उस आत्मा में इन तीनों की प्रतीती हुई। पर सचमुच ये तीनों थे नहीं, न भविष्य में कभी हो सकते हैं। यह अनुभव ही इनका दहन है। जैसे त्रिपुरासुर नष्ट हुआ है भगवान् के अट्टहास से, इसी प्रकार वेदान्त के वाक्य का श्रवण होते ही ये जल जाते हैं। जैसे अट्टहास उनके मुँह का शब्द है , वैसे ही महावाक्य भी उन्ही के द्वारा उच्चारित वाक्य है।

'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ-सम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति।।'

भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं 'तत्त्वमसि' आदि जो भी जीव-ईश्वर की एकता को बतलानेवाले वाक्य हैं, उन वाक्यों से उत्पन्न होती है 'सम्यग्धी' सम्यक् बुद्धि, वास्तविक बुद्धि उत्पन्न होती है। उसके जन्म से यह सब जल जायेगा, अविद्या और अविद्या का कार्य स्थूल, सूंक्ष्म शरीर बाधित हो जाएँगे।

यदि अट्टहास मात्र से होना है, भगवान् शंकर ही इसे करने वाले हैं तो हमें क्या करना है? सारी तैयारी करके उन्होंने यह बताया कि 'यह सब तुम करो'। साधक सहयोग करे, कार्य तो ईश्वर ही करेंगे। 'रथः क्षोणी' तुम्हारा शरीर रथ है । कठोपनिषद् में कहा गया है, 'शरीरं रथमेव तु' शरीर रथ है। स्थूल शरीर ही

रथ है। इसी में बैठकर साधना होगी। इस रथ को चलानेवाला कौन? 'शतधृतिः' ब्रह्माजी इसे चलानेवाले हैं अर्थात् ब्रह्माजी ने जिस वेद का प्रतिपादन किया है, उस वेद के अनुसार यह शरीर चले। चलानेवाला तुम्हारा मन हो। अभी तो जो तुम्हारा मन चाह रहा है, वह तुम शरीर से करवाते हो और तब जो ब्रह्मा करवाना चाहते हैं, वेद करवाना चाहता है, वह शरीर से करवाओगे। शतधृति है तो ब्रह्माजी का नाम पर शत मायने सौ, धृति मायने धैर्य; सैकडों गुना तुम अपने धैर्य को बढाओगे तब वेद के अनुसार तुम अपने जीवन को बना सकोगे। धैर्य सारे धर्मों का आधार है। मनु ने जहाँ दस धर्मों को गिना, वहाँ सबसे पहले धृति को, धैर्य को गिना। भिन्न-भिन्न मतवाले कोई किसी को प्रधान मानते हैं, कोई किसी को। जैन लोग कहते हैं, अहिंसा ही प्रधान है। ईसाई कहते हैं, दया ही प्रधान है। अलग-अलग लोग अलग-अलग धर्मों को कहते हैं। परन्तु सनातन धर्म के मनु महाराज कहते हैं, धैर्य प्रधान है। जिसमें धैर्य होगा वह सब धर्मों का पालन कर सकेगा। जो अधीर होगा वह किसी धर्म का पालन कर नहीं सकेगा।

वर्तमान में कठिनाई यही है कि हम सब अपने धैर्य को खोये हुए हैं, अधीर हैं। रेल का टिकट लेने जाते हैं तो अधीर हैं। परसों का टिकट चाहिए तो परसों का ही चाहिए। इसके लिए चाहे घूस दो, कुछ भी करो। धैर्यवाला कहेगा, परसों नहीं मिला, तो जबका मिलेगा तबका ले लेगें। हर कार्य में हम अधीर हैं। कई बार लोग कहते हैं कि 'हम वहाँ जाते ही फोन करवा देंगे कि पहुँच गये'। हम कहते हैं 'चिट्ठी लिख देना'। कहते हैं 'नहीं-नहीं टेलीफोन करवा देगें। चिट्ठी देरी में आती है'। क्या फर्क पड़ता है? अगर तुम ठीक से पहुँचे तो पहुँचे, नहीं पहुँचे तो नहीं पहुँचे। अगर पहुँच गयें तो टेलिफोन आने से कोई विशेषता नहीं। और अगर नहीं पहुँचे, बीच में एक्सीडेण्ट हो गया, तो चिट्ठी आती पाँच दिन बाद, पाँच दिन बाद दुःख होना शुरु होता, टेलिफोन आ जाय तो उसी दिन से दुःख होना शुरु हो जाय! क्या फायदा? लेकिन अधीर हैं, तुरन्त जानना चाहते हैं क्या हो गया। इस अधीरता को ही लोगों ने आजकल सूचना प्रौद्योगिकी का विकास मान रखा है। किसी भी बात को जानने के लिए हमें धैर्य नहीं रखना पड़ता इसे बड़ी भारी उन्नति मानते हैं! धर्म के मार्ग पर

चलने के लिए साधारण की अपेक्षा सैकड़ों गुना ज्यादा धैर्य चाहिए। अधीर व्यक्ति धर्म का पालन कर नहीं सकता। आजकल, जैसा बतलाया, कि लोग अधीर हैं, चाहते हैं कि तुरन्त काम हो जाये, तभी वे धर्म के मार्ग को छोड़ते हैं। तुम्हारा सारथी है बुद्धि, बुद्धि एकदम धैर्यवाली होनी चाहिए।

चलाने के लिए धनुष चाहिए। उपनिषद् में बताया है कि उपनिषद् ही धनुष है, उसी को यहाँ अगेन्द्र कहा। 'अग', जो हिलता नहीं, स्थिर होता है। स्थिर चीजों के अन्दर श्रेष्ठ कौन है? परब्रह्म परमात्मा ही वास्तविक अगेन्द्र है। उपनिषद् को अगेन्द्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि उपनिषदों में परब्रह्म परमात्मा का प्रतिपादन किया है। जो जिसका साधन होता है वह उसके नाम से कह दिया जाता है। जैसे आदमी कहता है 'नौकरी ही मेरी रोटी है'। नौकरी रोटी होवे तो घर में भोजन बनाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए! 'नौकरी रोटी है' का अर्थ है नौकरी से रोटी मिलती है। उसी प्रकार उपनिषद् से ब्रह्म की प्राप्ति होती है अतः उपनिषद् को ही अगेन्द्र कह दिया।

इस रथ को चलाने वाला कौन? इस रथ के दोनों तरफ सूर्य और चन्द्र हैं। सूर्य और चन्द्र के बारे में कालिदास ने कहा 'ये द्वे कालं विधत्तः।' सूर्य और चन्द्रमा ही काल का निर्णय करते हैं, काल-विधान करते हैं। दिन का निर्णय सूर्य कर देता है और मास का निर्णय चन्द्रमा कर देता है। तात्पर्य है कि इस शरीर के अन्दर जब तक विद्यमान हो, तब तक उपनिषदों का विचार करो। काल कब तक रहता है? जब तक नींद न आ जाये। नींद आने के बाद तो काल नहीं रहता है। कितनी देर नींद आयी इसका पता नींद में नहीं लगता। कई बार तो यहाँ तक भ्रम हो जाता है कि रात-दिन का ज्ञान नहीं रहता। दिन में सोये। बहुत अच्छी नींद आयी। नींद खुली, देखा चार बज गये हैं। लेकिन इधर-उधर चारों तरफ रोशनी नजर आती है। अरे! आज रोशनी कैसे है? बरामदे में देखते हैं तो धूप निकल आयी है। तब ख्याल आता है कि दिन में सोये थे। गहरी नींद आ जावे तो दिन और रात में भी भ्रम हो जाता है। जब तक नींद न आवे, तब तक साधना करनी है। जब तक काल है, तब तक विचार को चलाना है।

बाण इसमें कौन बनता है? भगवान् विष्णु बनते हैं 'रथचरण' - रथ का चक्का हाथ में है जिनके। बाण को भी उपनिषद् में बतलाया है , 'शरो हि आत्मा'। आत्मा को ही बाण बताया। वही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों के अन्दर अनुस्यूत है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका चक्र चल रहा है। यह किसके हाथ में है? आत्मा के हाथ में।

यह सारी तैयारी करो तो ऐसा मत समझना कि 'हमने साधना की, अतः ज्ञान हो जायेगा'। होना केवल भगवान् शंकर के वाक्य से है, तत्त्वमस्यादि वाक्य से होना है। परन्तु यह सब तैयारी पूर्ण होती है तभी वाक्य से ज्ञान होगा। ऐसा क्यों? 'विधेयैः क्रीडन्त्यः' भगवान् शंकर का खेल ही ऐसा होता है कि यह सब करो तब ज्ञान हो जाता है। आगे यह प्रश्न नहीं कर सकते कि भगवान् ऐसे ही ज्ञान क्यों नहीं कर देते? जब करना उसी को है तब हमारे बिना कुछ किये ही क्यों नहीं कर देते? उनके निश्चय के बारे में हम यह नहीं माँग कर सकते कि 'तुम अपना निश्चय बदल दो'। वे परतन्त्र नहीं हैं। इस प्रकार त्रिपुरासुर की लीला और उसका आध्यात्मिक तात्पर्य बताया।

श्लोक-१९

त्रिपुरासुरसंहार की लीला में भगवान् विष्णु ही क्यों बाग बने-यह बतलाते हैं-

हरिस्ते साहस्त्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर ! जागर्ति जगताम्।।१६।।

(पदच्छेदः)

हरिः ते साहस्रम् कमलबलिम् आधाय पदयोः
यत् एकोने तस्मिन् निजम् उदहरद् नेत्रकमलम्।
गतः भक्त्युद्रेकः परिणतिं असौ चक्रवपुषा
त्रयाणाम् रक्षायै त्रिपुरहर ! जागर्ति जगताम्।।

(सान्वयार्थः)

त्रिपुरहर ! = हे त्रिपुरासुरनाशक! **हरिः** = भगवान् विष्णु न **ते** = आपके **पदयोः** = चरणों में **साहस्त्रम्** = एक हजार **कमलबलिम्** = कमलों की भेंट **आधाय** = चढ़ाने का संकल्प करके **तस्मिन्** = उन (कमलों) में से **एकोने**[1] = एक कम हो जाने पर **यत्** = जो **निजम्** = अपने **नेत्रकमलम्** = आँख रूपी कमल को **उदहरत्** = उखाड़ा, **असौ** = वही **भक्त्युद्रेकः** = भक्ति का आधिक्य **चक्रवपुषा** = सुदर्शनचक्र रूप में **परिणतिं** = बदल **गतः** = गया, **त्रयाणाम्** = (और भगवान् विष्णु अब उसी सुदर्शन से) तीनों **जगताम्** = लोकों की **रक्षायै**[2] = रक्षा करने में **जागर्ति** = सावधान रहते हैं।

(१–भगवान् विष्णु प्रतिदिन १००० कमलों से शिवजी की पूजा करते हैं। एक बार उनकी भक्ति की परीक्षा करने के लिये शिवजी ने कमल को गुप्त कर दिया। पूजा करने बैठने के बाद बिना पूर्ण किये उठने से नियम भंग हो जायगा अतः भगवान् विष्णु ने सोचा कि अपना नेत्रकमल ही क्यों न चढ़ा दें। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर शंकर ने उन्हें सुदर्शन चक्र दे दिया।

२–भक्ति तो अकेले भगवान् विष्णु ने की और सारे जगत् की रक्षा हो गई, यही महादेव की भक्ति का अचिन्त्य माहात्म्य है।)

भगवान् विष्णु नियमसे हजार कमलों के द्वारा शिवपूजन करते हैं। 'वेदसारस्तोत्रम्' में भगवान् के एक हजार नाम हैं। उन नामों का उच्चारण करके वे एक हजार कमल प्रतिदिन चढ़ाते हैं। यह उनका नियम है। जब काफी दिनों तक इस प्रकार करते रहे, तब भगवान् शंकर ने विचार किया कि इनकी दृढ निष्ठाको सब लोग समझ पायें ऐसी लीला करनी चाहिए। जब किसी को कोई बड़ा आदमी किसी से अधिक सम्मान देता है तो दूसरों के मन में आता है कि इसे अधिक सम्मान क्यों दिया जा रहा है। पर अधिक सम्मान देने का कारण प्रकट कर दिया जाय तब समझ में आ जाता है कि 'इसमें यह विशेषता है जो मुझ में नहीं अतः मेरी प्रधानता नहीं है'। परमेश्वर को तो पता रहता है कि दूसरे का बाह्य व आन्तर भाव कैसा है। उनको किसी की निष्ठा जानने के लिये परीक्षा की जरूरत

नहीं है। परन्तु लोग मर्यादा समझें, इसके लिए लीला करने की आवश्यकता होती हैं।

अत: एक दिन जब भगवान् विष्णु पूजा करने बैठे तब भगवान् ने एक कमल कम कर दिया। भगवान् विष्णु ने पूजा के कमल चढ़ाये, नौ सौ निन्यानबे कमल चढ़ गये, एक नाम बाकी रह गया, कमल था नहीं। अब क्या किया जाय? पूजा के बीच में यदि उठते हैं तो पूजा खण्डित हो जाती है, पूजा के बीच में उठने का निषेध है। किसी को आवाज देकर भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि नामावली से चढाने के बीच में कोई अन्य बात बोलने का भी निषेध है। जब तुमने संकल्प कर लिया है कि 'मैं अब हजार कमल चढ़ाने जा रहा हूँ', तो पूरे कमल चढ़ाये बिना बीच में कोई भी काम करो वह संकल्प के विरुद्ध होगा।

प्राय: हम लोग संकल्प के धनी नहीं हैं, संकल्प के दरिद्री हैं। संकल्प करने के बाद थोड़ी-सी भी कठिनाई आती है तो हम सोचते हैं कि ऐसा करने में क्या हर्ज हैं। लौकिक वार्ता में तो हम लोग संकल्प पर कुछ दृढ रहते भी हैं। जैसे ब्याह की तिथि निश्चित हो गई, बीच में कोई विघ्न आ गया। कई तरह के विघ्न आ जाते हैं। कोई बीमार हो गया अथवा और कोई कारण हो गया। तो कहते हैं 'भाई! अब तो कार्ड चला गया, लोगों को खबर हो गई, अब तो करना ही पड़ेगा'। परन्तु हमने अमुक समय भजन करने का निश्चित रखा है और यदि कोई बीमार हो गया या कोई मिलने वाला आ गया तब मन में होता है कि उसे कैसे कह दें कि तुम चले जाओ! विवाह के बीच में विघ्न आयेगा तो कहेंगें 'हमें तो विवाह में जाना है, आप बीमार हैं तो एक सेवक रख देते हैं हमें तो जाना ही है'। परन्तु परमेश्वर के पूजन के बारे में हमारा संकल्प दृढ रहता नहीं है। सोमवार का व्रत करना है, बुखार आ गया सायकाल स्नान करके भगवान् शंकर का पूजन नहीं कर सकते! दोनों में फर्क देखो। शादी के लिए जाना है तो जाना ही है। दिल्ली के अन्दर सर्दियों में विवाह होते हैं। औरतें 'हम अच्छी तरह से दीखें इसके लिए बड़े पतले झीने कपड़े पहनकर जाती हैं, सर्दी सहन कर लेती हैं। परन्तु उन्हीं को यदि हम कहते हैं कि 'पूजा में जब बैठा करो तो सिले कपड़े पहनकर न बैठा करो'। तो कहती हैं, 'सर्दी में क्या करें'? संसार के प्रयोजन

से बरदाश्त कर लेते हैं पर परमेश्वर के काम में हम झट से घुटने टेक देते हैं। अतः हमारे संकल्प में दृढता नहीं है। सोमवार का व्रत करना है तो प्रदोषकाल में पूजन करना ही है, चाहे बुखार आवे।

भगवान् विष्णु दृढ संकल्प वाले थे। परन्तु अब कमल कम पड़ गया, वे ज़रा विचार में पड़ गये। विचार करते ही ख्याल आया कि मुझे 'पुण्डरीकाक्ष' कहा गया है। भगवान् विष्णु को 'कमलनयन' कहते हैं। कमल जैसे उनके नयन हैं। उन्होंने निर्णय किया कि 'आज तो नेत्र ही, कमलरूप नयन ही कमल की जगह चढ़ा दूँगा'। यह विचार कर उन्होने अपना नेत्र चढ़ा दिया। भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। नेत्र चढ़ाने वाले की यदि कोई प्रशंसा करता है तो यह शंका नहीं की जा सकती कि क्यों प्रधानता दी जा रही है क्योंकि संकल्प की वह दृढता सबके सामने प्रकट है।

भगवान् विष्णु आपके चरण कमलों पर कमलों की बलि देने के लिए, कमल चढ़ाने के लिए, हजार कमलों को लेकर बैठे परन्तु उनमें एक कमल कम हो गया, तब उनका जो नेत्रकमल था उसे निकालकर उन्होंने चढ़ा दिया! यह क्यों? उनके अन्दर भगवान् शंकर की भक्ति का उद्रेक था। बर्तन पूरा भरा हो, उसके अन्दर थोड़ा सा भी और डालो तो बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार जब मन के अन्दर भक्ति भरी हुई होती है, तब बड़े से बड़ा बलिदान का कार्य बिना किसी कठिनाई के हो जाता है। बाधा विघ्न आने पर हम रास्ता ढूँढते हैं, उसका कारण यह है कि हमें वैसा प्रेम नहीं है, भक्ति की कमी है, प्रेम की कमी है। विष्णु में प्रेम का उद्रेक था। उनकी ऐसी भक्ति के उद्रेक को देखकर भगवान् शंकर ने सुदर्शन चक्र दिया। इस प्रकार भगवान् विष्णु चक्रधारी हुए।

उस सुदर्शन की प्राप्ति से तीनों लोकों की रक्षा वे आज तक कर रहे हैं। तीनों लोकों की रक्षा हो रही है उस चक्र से। लोगों ने तो कोई ऐसा कार्य किया नहीं कि उनकी रक्षा होवे पर भगवान् विष्णु की भक्ति का फल बाकी सब लोगों को भी मिल रहा है। संसार में इस प्रकार सुदर्शन चक्र को धारण करके भगवान् विष्णु हमेशा जागते रहते हैं, सबकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। इसलिए गीता में भी भगवान् ने कहा–

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः।।

यदि मैं निरन्तर लोगों की रक्षा में न लगा रहूँ, तो मुझे प्रमादी देखकर के दूसरे भी प्रमादी हो जायेंगे। इसलिए मैं अतन्द्रित हुआ सारे संसार की रक्षा में लगा रहता हूँ। भगवान् विष्णु हमेशा जागते रहते हैं किसके लिए? सब की रक्षा के लिये, भगवान् विष्णु किस प्रकार ऐसे पद को प्राप्त कर गये यह सूचित करने के लिये कहा- 'त्रिपुरहर'।

इसके पहले वाले श्लोक में बतला दिया था 'रथचरणपाणिः शर इति'। चक्र को पाणि में धारण करते हैं, उसी से वे बाण बने। शर किसे बताया? आत्मा को; वही बाण है। वह परब्रह्म परमात्मा में कब जाता है? जब प्रमादरहित होकर साधना में लगता है तब जाता है। इसलिए कहा है, 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्' प्रमादी व्यक्ति उस परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे भगवान् विष्णु ने कहा कि 'मैं एक क्षण भी प्रमाद नहीं करता हूँ' इसी प्रकार जो जीव प्रमाद से रहित होगा वही परमात्मा को बाण की तरह जा कर प्राप्त कर सकेगा।

जैसे लीला में विघ्न आया था कि कमल घट गया ऐसे ही हमारे लिए कमल क्या है? हम कर्म करते हैं और फल में आसक्त हो जाते हैं। कोशिश कर कुछ कर्मों के तो फल से दृष्टि हटाते हैं जैसे नौ सौ निन्यानबे कमल तो चढ़ा दिये थे। कुछ कर्मों को हम कमल की तरह कर तो देते हैं; कमल पर जल नहीं टिकता, उसी तरह आसक्ति हम अपने में नहीं टिकाते। परन्तु कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि किसी-किसी कर्म के फल की तरफ हमारी कमल-दृष्टि नहीं बन पाती, यही है कमल कम रह जाना। ऐसी स्थिति में हम उस विघ्न को देखकर सोचते हैं कि 'यह तो हो नहीं सकता'। लेकिन जैसे उन्होंने अपना कमल नयन चढ़ा दिया इसी प्रकार हमें दीर्घ विचार करके अपने संकल्प को पूर्ण करने के लिए जो वह कामना आई है उसे निकाल देना पड़ेगा। फल-कामना जब सर्वथा निवृत्त हो जाती है तब यह आत्मा परमेश्वर को प्राप्त करने योग्य हो जाता है। तब इसे सुदर्शन प्राप्त होता है, परमेश्वर का साक्षात्कार मिलता है।

उस सुदर्शन के द्वारा जो भी परमेश्वर के साधक हैं उनको ज्ञान मिलता है, उनकी रक्षा होती है।

जीव की वास्तविक रक्षा यही है कि यह अपने मायिक रूप को छोड़ कर, झूठे रूप को छोड़ कर जो अपना वास्तविक परमात्मरूप है, उसे समझ लेवे। असली रक्षा यही है, बाकी रक्षा तो क्षणिक होती है। विपत्ति आयी, दूर हो गई; लोग कहते हैं 'रक्षा हो गई'। फिर थोड़े समय के बाद विपत्ति आयेगी। आदमी को कोई रोग आता है, चिकित्सा कराता है, ठीक हो जाता है। सोचता है 'डाक्टर साहब ने हमें बचा लिया'। थोड़े दिन के बाद फिर कोई दूसरा रोग आ जाता है। यह तो कोई बचाना नहीं होता। वास्तविक बचाना तो तब होवे जब रोग निवृत्ति हो जाए और फिर कभी न आवे। थोड़े समय के लिए लगा 'हम ठीक हो गये', पर रोग वैसा का वैसा रहा, इसे रक्षा कहना नहीं बनता। इस संसार की निवृत्ति तो केवल सुदर्शन के द्वारा ही हो सकती है। इसलिए भगवान् विष्णु को उन्होंने हमेशा ही चक्रधारी रूप दे दिया जिससे वे सावधान होकर अप्रमादी होकर जगत् की रक्षा में प्रवृत्त हैं। इस प्रकार भगवान् विष्णु के चक्रधारी बनने की लीला इसमें बतायी।

इसके द्वारा यह भी बताया कि वे 'शर' कैसे बने। जब कर्मों के फल की तरफ से मनुष्य सर्वथा आसक्तिशून्य हो जाता है, तभी वह परमात्मा को बाण की तरह प्राप्त कर पाता है।।१९।।

श्लोक-२०

प्रश्न होता है, कि कर्म का फल होता भी है या नहीं? वर्तमान काल में सबसे बड़ी समस्या यही है। अधिकतर लोग यही कहते हैं 'आगे किसने देखा है!' किसी भी कर्मका जहाँ दृष्ट फल होता है, फल यहीं देखा जाता है, वहाँ फल मान लेते हैं। दाल-भात खाया, पेट भर गया। मान लेते हैं कि खाने का फल हो गया। परन्तु जिसका फल सद्यः नहीं मिलता है, आगे मिलेगा, उसके बारे में सबके मन में यह सन्देह पैदा कर दिया गया है कि आगे किसने देखा है!

आगे का मतलब मृत्यु के बाद ही नहीं समझ लेना। पाँच हजार रुपया

देकर स्कूटर खरीद लिया। उसका दो साल तक भुगतान करना है। कोई समझाये कि 'थोड़ा रुक कर, पैसा इकट्ठा करके खरीद लेना, क्या पता कोई नौकरी छूट जाये, व्यापार में घाटा लग जाये, उधार नहीं लौटा पाये तो स्कूटर भी चला जांयेगा।' तो कहते हैं 'दो साल किसने देखे हैं। अभी तो स्कूटर पर बैठकर मजा ले लो!' उत्तर प्रदेश में एक कानून बना है कि पाँच हजार तक का कर्जा बैंक से लिया हो तो वह सब माफ कर दिया जायेगा, वापस करने की जरूरत नहीं। एक-दो व्यक्तियों ने हमसे पूछा कि 'अब तो रुपया नहीं देना पड़ेगा, कानून हो गया?' हमने कहा 'कानून तुमको यहाँ दण्ड देने से रोकेगा, पर जो तुमने उधार लिया है उसको वापस न करने के दोष को कानून दूर नहीं कर सकेगा। वह तो तुमको भुगतना ही पड़ेगा। लोग समझ लेते हैं कि कानून के अनुसार हो गया तो पाप नहीं रहा। कानून केवल इस लोक के बारे में कह सकता है। हमने खून कर दिया। गवाहों को हमने रुपया देकर इधर-उधर कर दिया। अदालत ने हमें छोड़ दिया। हम निरपराध घोषित हो गये। परन्तु क्या सचमुच तुम सोचते हो कि तुम निरपराध हो गये? कानून की दृष्टि से तो निरपराध हो गये। कानून इस संसार की बात कह सकता है, पर वास्तविकता की बात नहीं कह सकता। उधार लेने में हम घबराते क्यों नहीं हैं। 'आगे किसने देखा है!'

परन्तु परमेश्वर के सामने यह सब चतुराई कोई महत्त्वा नहीं रखती है। यह सब क्यों होता है? हम समझते हैं कि हमने कर्म किया, इसके फल से हम बच सकते हैं। कर्म के फल के प्रति आसक्ति मत करो। परन्तु यह निश्चय जानो कि कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। फल मुझे मिले, यह आसक्ति तो छोड़नी है, पर फल मिलना है। मिलना है, पर हमको उसमें असक्ति नहीं रखनी है। प्रायः जिस कर्म के फल की बात सामने नहीं होती, फल में आसक्ति नहीं होती है उसी कर्म में हम ढिलाई करते हैं। जो हमेशा से चले आ रहे नित्य-नैमित्तिक पूजन हैं उनमें तो हम ढिलाई करते हैं। और पण्डितजी ने कह दिया, 'तुम्हारे ऊपर शनि आ रहा है, यदि तुम शनि-देवता की शान्ति नहीं करोगे तो तुम्हारी जान पर आफत आयी है, मारकेश है।' तब कितनी सावधानी से शनि की शान्ति करवाई जाती है? फलासक्ति जहाँ नहीं होती है, वहाँ मनुष्य ठीक से कर्म नहीं

करता। इसलिए फलासक्ति छोड़ने का तात्पर्य हो जाता है कि कर्म के प्रति ही मनुष्य प्रमादी हो जाता है! कर्म के प्रति प्रमादी न रहते हुए फलासक्ति को छोड़ना है। जैसा मनुष्य फलासक्ति रहते कर्म करता है वैसा ही कर्म मनुष्य इस निश्चय के साथ करे कि कर्म अवश्य ही फल देता है।

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः* कर्मसु जनः।।२०।।

(पदच्छेदः)

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वम् असि फलयोगे क्रतुमताम्
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनम् ऋते।
अतः त्वाम् सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः।।

(सान्वयार्थः)

प्रध्वस्तम् = समाप्त होते ही नष्ट हुआ **कर्म** = कर्म **पुरुषाराधनम्** = [1]चेतन तत्त्व की उपासना के **ऋते** = बिना **क्व** = कहाँ और कब **फलति** = फल देता है? **क्रतौ** = (फिर भी) यज्ञ, जप, पूजादि के **सुप्ते** = नष्ट हो जाने पर **क्रतुमताम्** = यज्ञादि कर्म करने वालों को **फलयोगे** = फल देने में **त्वम्** = आप **जाग्रत्** = सावधान **असि** = हैं, **अतः** = इसलिये **त्वाम्** = आपको **क्रतुषु** = वैदिक और स्मार्त कर्मों के **फलदानप्रतिभुवम्** = फल देने में संलग्न **सम्प्रेक्ष्य** = जानकर **जनः** = अधिकारी लोग **श्रुतौ** = वेद में **श्रद्धां** = अत्यन्त विश्वास **बद्ध्वा** = रख कर **कर्मसु** = वैदिक कर्म में **दृढपरिकरः** = उद्यम करते हैं।

(१–प्रत्येक कार्य समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है। परन्तु राजा आदि के सेवा रूप कार्य के समाप्त होने के बाद भी राजा उसका भविष्य में फल देता है। इसी प्रकार पूजा, जप आदि कार्य तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु भविष्य में उनके फल देने वाले चेतन तत्त्व भगवान् सदाशिव मौजूद

हैं। इससे जो सांख्यादिक ईश्वर को नहीं मानते उनका पराभव हो गया क्योंकि जड वस्तु देशकाल के व्यवधान से फल देने में असमर्थ है। *कृतपरिकरः पाठभेद है।)

जो यज्ञ हम कर रहे हैं, वह यज्ञ तो जैसे ही पूर्णाहुति होकर अवभृथ स्नान हो गया, खत्म हो जाता है। यज्ञ तो खत्म हो गया, परन्तु भगवान् जग रहे हैं। जिन्होंने यज्ञ किया, क्रतु किया, उनको उसके फल की प्राप्ति होवे इसके लिये आप जग रहे हैं। 'आगे किसने देखा है!' इसका जवाब है - आगे परमेश्वर ने देखा है। लोग शंका करते हैं : 'श्राद्ध किया, पण्डित ने खा लिया, हम देखते तो नहीं कि हमारे पूर्वजों ने खाया कि नहीं। कोई फल तो दीखता नहीं।' इसी प्रकार 'देवताओं के लिए हमने आहुति दी। आग में झोंक दी, सब चीज जल गयी, कोई फल तो दीख नहीं रहा है। देवता ने तो आकर ग्रहण किया नहीं।' श्राद्ध में पितर नहीं दीखते, यज्ञ में देवता नहीं दीखते। आदमी को जँचता है कि सब निष्प्रयोजन है क्योंकि प्रत्यक्ष फल दीखता नहीं। जो कर्म नष्ट हो गया, वह कहाँ फल देगा?

जवाब देते हैं कि एक जगह है जहाँ कर्म समाप्त होने पर भी फल देता है: 'पुरुषाराधनम्' किसी चेतन पुरुष के लिए हम जो कर्म करते हैं उसका फल तब न मिले, पर आगे मिलता है। मालिक ने कहा, 'आज शाम को ज़रा काम है, रुक जाना।' एक नौकर कहता है, 'हाँ जी।' दूसरा कहता है, 'मुझे तो आठ घंटे हो जाते हैं पाँच बजे, मैं तो जाऊँगा। मैं नहीं रुक सकता।' ठीक है, नियम तो यही है कि आठ घंटे के बाद तुम नहीं रोक सकते। उस दिन तो तुम उस नौकर को कुछ नहीं कहते हो। ऐसी घटनाएँ पाँच-सात बार हुई। एक हमेशा 'न' करता रहा, एक हमेशा 'हाँ' करता रहा। जब तनख्वाह बढ़ाने का समय आता है, तब जो 'हाँ' कहता था, उसको तुम दो तरक्कियाँ देते हो और जो आठ घंटे की बात करता था उसको तुम आठ घंटे के हिसाब से एक तरक्की दे देते हो। जब उसने तुम्हारी सेवा की तब तो तुमने उसको कुछ नहीं दिया परन्तु तुम चेतन पुरुष हो इसलिए छः महीने बाद तुमने निर्णय किया, उसे फल दे दिया। यदि कर्म खुद फल देता होता तब उसे शंका होती कि 'कर्म खत्म हो

गया फल नहीं मिला तो शाम को रुकना, बेकार गया।' पर क्योंकि वह जानता है कि मालिक देख रहा है इसलिये उसे शंका नहीं होती, इन्तजार करता है।

हमने श्राद्ध किया, कर्म खत्म हो गया। हमने श्राद्ध किसके निमित्त किया? पितरों के निमित्त से किया। परमेश्वर उन्हे उसका फल देगा। इसी प्रकार हमने अग्नि में आहुति दी परमेश्वर के लिए, वही उसका फल देगा। बहुत से लोग कहते हैं कि 'इतना घी आग में जलाने से क्या फायदा? किसी को खिलाने से ज्यादा अच्छा होगा।' विचार करनेवाले को तो किसी को खिलाने में भी फायदा नहीं दीखता! घी खाकर सवेरे मल ही बना देगा! घी का क्या उपयोग होगा? अग्नि में जाकर कम से कम सुगन्ध तो आती है। तब यही कहोगे कि खाने वाला चेतन है, जीव है, उसको प्रसन्नता हुई। यही फल है। यदि केवल पदार्थ के उपयोग को देखते हो तब खिलाना बेकार है, आहुति देना ही ठीक है। यदि कहते हो कि चेतन प्रसन्न हुआ यह फल है तो परमेश्वर भी चेतन है! इसलिए कहा कि चेतन पुरुष की आराधना तो अवश्य ही फल देती है। अन्यथा, केवल कर्म को फल देनेवाला मानेंगे तो व्यवहित फल समझने में दिक्कत आ जायगी। चूँकि पुरुषाराधन ही फल देता है अतः आप क्रतुके, यज्ञों के फल देने में समर्थ होने से 'प्रतिभू' हैं। 'प्रतिभू' अर्थात् जिम्मेवार। जैसे आप लोगों के पास रुपयों के नोट हैं, उस पर लिखा होता है 'सरकार के द्वारा प्रत्याभूत'। इसी प्रकार वेद में कहे हुए जो कर्म हैं उनकी प्रतिभूति करने वाले साक्षात् भगवान् शंकर हैं। वैदिक कर्मोंका फल वही देंगे। यह उन्होंने 'गारंटी' ली है।

ऐसा विचार कर जब आदमी निश्चय कर लेता है तब वेद में कही हुई बात में पूर्ण श्रद्धापूर्वक लगता है। ठीक जैसे जिसको विश्वास है, श्रद्धा है कि केन्द्रीय सरकार ने इस नोट की प्रतिभूति ली है वह उस नोट को बचाकर रखेगा। परन्तु जिसको सन्देह होगा वह नोटों से संतुष्ट नहीं रहेगा। बहुत से पुराने लोग थे, अभी भी हैं, वे घर में सोना-चाँदी रखते हैं। नोटों को नहीं रखते हैं क्योकि उन्हें उस प्रतिभूति पर भरोसा सचमुच ही नहीं है। एक हमारे पण्डितजी बतलाते थे : एक बार किसी ने कहा 'तुम अपने रुपये डाकखाने में जमा करा दो। ब्याज मिलेगा ज्यादा रूपये मिलेंगे।' कहते थे - मैंने जमा करा दिये पाँच साल के लिए। सौ

रूपये जमा कराये; पाँच सालों बाद उस जमाने के हिसाब से एक सौ बीस रुपये डाकखाने ने उन्हें दिये। उन्होंने कहा 'हमने रुपये जमा कराये थे तब तुमने कहा था कि रुपये ज्यादा मिलेंगे। पर तुम तो कम दे रहे हो!' डाकपाल ने पूछा, 'कम कैसे दिये हैं, आपने सौ दिये और हम एक सौ बीस दे रहे हैं?' पंडितजी ने कहा जब मैंने जमा कराये थे तब सौ रूपये के चार सौ सेर, दस मन दूध मिलता था। अब जो तुम एक सौ बीस दे रहे हो, उसमें तो नौ मन दूध भी नहीं मिलेगा! तुमने हमारे एक मन दूध के पैसे मार लिए। तुम हमें कम-से-कम दस मन के पैसे तो दो, मूलधन तो लौटाओ। बोलो! हमें कोई जल्दी नहीं है, चाहे दस साल बाद दो पर दस मन के पैसे तो वापस मिलने ही चाहिए। डाकखाने वालों ने कहा कि उतने तो कभी नहीं मिलने हैं। ऐसे ही जो प्रतिभूति रूपये में लिखी है, वह ठगी का मामला है। फिर भी लोग उस पर श्रद्धा करते हैं। और परमेश्वर जिसकी प्रतिभूति ले रहे हैं उसके लिए कहते हैं, किसने देखा है! श्रुति पर श्रद्धा हो तो निश्चय रहेगा कि परमात्मा इसकी प्रतिभूति हैं अतः उनपर श्रद्धा करके ठीक ध्यान देकर जैसा कहा है ठीक वैसा ही कर्म करते रह सकते हैं।

महाभारत में आता है कि भीष्म पितामह एक बार श्राद्ध कर रहे थे, गया में। पिण्ड देते समय शन्तनुका हाथ जल से निकला कि 'हमें पिंड दे दो'। भीष्म पितामह ने कहा, "शास्त्र में लिखा है कि पिण्ड तो दूर्वा के ऊपर दिया जाता है। हाथ के ऊपर देने का तो कहीं लिखा नहीं है। इसलिए हाथ पर नहीं दे सकता।" आवाज आयी कि 'खुद आये हैं तब तो हमें देना चाहिये।' भीष्म ने कहा 'खुद आये हैं तो आपको भोजन बनाकर दे देंगे। पर शास्त्रीय पिण्ड तो शास्त्रीय ढंग से ही देंगे।' तब शान्तनु प्रसन्न हो गये कि यही परीक्षा लेने आया था कि तुम्हें शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा है कि नहीं। अश्रद्धालु सोचेगा कि शास्त्र में लिखा है तो क्या होता है, कुशा के ऊपर रखकर क्या होगा, जब खुद हाथ कर रहे हैं तब हाथ पर ही देना चाहिये।

जैसा शास्त्र में बताया है वैसा करने में पूर्ण आग्रहवाला तभी होगा जब श्रुति में श्रद्धा होगी। यह इसलिए कि उसे निश्चय रहेगा कि जो परमेश्वर ने नियम बनाया है, वैसा ही करने से उसका फल होगा। उसमें अपनी बुद्धि लगाने

का प्रयोजन नहीं।

श्लोक-२१

कल बतलाना प्रारम्भ किया था कि कर्म समाप्त होने पर भी वह फल दे सकता है क्योंकि वह परमेश्वर की आराधना के लिए किया है। चेतन ही कालान्तर में फल दे सकता है। जड कर्म उसी समय तो फल दे देता है, व्यवहित फल दे सके यह समझ नहीं आता। इसलिए कहा था कि वेद में श्रद्धा करके शास्त्रीय कर्म में प्रवृत्ति होती है, वही ठीक फल देती है। यदि बिना श्रद्धा के करे तो सही फल नहीं होता। जहाँ शास्त्रीय कर्म के अधिकारी का विचार आया है, वहाँ श्रद्धावान् होना भी आवश्यक कहा है। 'अर्थी, समर्थ' ये दो बातें तो प्रायः लौकिक लोग भी मान लेते हैं। जिसे जिस फल की इच्छा नहीं है, वह कर्म क्यों करेगा? यदि सामर्थ्य नहीं है तो चाहे जितनी इच्छा हो, नहीं कर सकता है। अर्थी और समर्थ इन्हें अधिकारीका विशेषण तो लोग समझ लेते हैं।

शास्त्रीय कर्म का अनुष्ठाता, श्रद्धावाला होना चाहिए। जिसको फल देनेवाले परमात्मा में, कर्म बतानेवाले शास्त्र में श्रद्धा नहीं है, वह शास्त्रीय कर्म में अधिकारी नहीं है। वर्तमान काल में लोगों ने एक विचित्र बात मान रखी है। कहते हैं, 'चलो, श्रद्धा नहीं है पर फिर भी करता तो हैं।' आजकल अधिकतर कर्मों में यही हो रहा है। विवाह का कर्म ठीक प्रकार से करने से वैवाहिक जीवन सफल होगा, ऐसी श्रद्धा वर्तमान में लोगों को नहीं है। फिर भी हवन करते हैं, फेरे डालते हैं। श्रद्धा नहीं होने से सोचते हैं 'बस, झटपट हो जाय'। उसमें बताये हुए नियमों के अनुसार करने को तैयार नहीं हैं। अधिकतर कर्मों में आजकल यह परिस्थिति हो रही है। जहाँ श्रद्धा नहीं होती है वहाँ कर्म नुकसानवाला होता है, यह बताते हैं-

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद ! सदस्याः सुरगणाः।
क्रतुभ्रेषस्त्वत्तः* क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः।।२१।।

(पदच्छेदः)

क्रियादक्षः दक्षः क्रतुपतिः अधीशः तनुभृताम्
ऋषीणाम् आर्त्विज्यम् शरणद ! सदस्याः सुरगणाः।
क्रतुभ्रेषः त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनः
ध्रुवम् कर्तुः श्रद्धाविधुरं अभिचाराय हि मखाः।।

(सान्वयार्थः)

शरणद! = हे भूतप्रेतादि को भी शरण देने वाले! **क्रतु-फलविधानव्यसनिनः** = यज्ञ का स्वर्गादि फल देने वाले **त्वत्तः** = आपसे, **क्रियादक्षः** = (जिस यज्ञ में) यज्ञादि क्रिया में प्रवीण **तनुभृताम्** = सभी प्राणियों के **अधीशः** = स्वामी **दक्षः** = दक्ष प्रजापति स्वयं **क्रतुपतिः** = यजमान (थे), **ऋषीणाम्** = त्रिकालदर्शी भृगु आदि महर्षियों का **आर्त्विज्यम्** = पुरोहितत्व (था), **सुरगणाः** = (और) ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता **सदस्याः** = दर्शक (थे), **क्रतुभ्रेषः** = ऐसे यज्ञ का नाश हुआ, **हि** = क्योंकि **श्रद्धाविधुरम्** = श्रद्धाभक्ति के बिना किये हुए **मखाः** = यज्ञ, पूजा, जप आदि **कर्तुः** = करने वाले का **अभिचाराय** = नाश **ध्रुवम्** = अवश्य ही करते हैं।

(दक्ष प्रजापति का यज्ञ सब विधियों से पूर्ण होने पर भी एक शिवभक्ति से रहित होने के कारण नष्ट हुआ तो साधारण मनुष्यों के कार्य यदि भगवद्भक्ति से रहित होने पर फल न दें तो क्या आश्चर्य है। शिवभक्ति से ही सारे कार्य पूर्णता को प्राप्त होते हैं।)

*"**क्रतुभ्रन्शः**" पाठभेद है।

इस लीला के द्वारा यह बतलाया कि श्रद्धा से रहित होकर यज्ञादि करना हानिप्रद है। विधुर उसे कहते हैं जिसका धुर नहीं है। रथ का जो चक्र होता है उसमें धुरी होती हैं। अगर वह धुरी नहीं होगी तो वह चक्र किस के चारों ओर घूमेगा? धुरी को ही धुर कहते हैं। गृहस्थ जीवन के अन्दर पत्नी ही धुर होती है। पत्नी के मरने पर व्यक्ति को विधुर कहा जाता है, बिना धुर का! क्योंकि पत्नी को ही लेकर वह गृहस्थाश्रम के चारों ओर घूमता था। धुर वह हुआ जिसके चारों ओर चक्र घूमता है। जिसके पास श्रद्धा का धुरा नहीं है, वह कर्म को चक्र

की तरह कभी नहीं घुमा सकेगा। वह हर बात में यही कहेगा कि 'यह नहीं करें तो क्या है? इसको ऐसा नहीं, वैसा करें तो क्या हर्ज है?'

आजकल के लोगों की श्रद्धाविधुरता को बतलाते हुए, एक बार एक बच्चे ने कहा, 'महाराज! जमाना बदल गया है, आप लोग घी के दीपक की आरती करते हैं, घण्टी बजाते हैं। यह करने की क्या जरूरत है! टार्च जलाकर भगवान् की आरती कर लो। चाभी से या बिजली से बजने वाली घंटी साथ बजा लेनी चाहिये।' श्रद्धारहित व्यक्ति इसीप्रकार की बातें हमेशा सोचता रहता है कि शास्त्र में जैसा कहा है उसको कर लेने की अपेक्षा अन्य तरह से हम कैसे कर लेवें।

लोग कहते हैं कि युग परिवर्तित हो गया है। परिवर्तित युग नहीं हुआ, तुम्हारी श्रद्धा निकल गयी है। इसलिए कहा, 'श्रद्धाविधुरम्' श्रद्धा-रहित जो कर्म किया जाता है वह 'कर्तुः अभिचाराय' करने वाले के ही नाश का कारण बनता है। अतः श्रद्धा हो तो कर्म करें, श्रद्धाविहीन जो कर्म किया जायेगा वह विपरीत फल ही देगा।

इस सम्बंध में एक कथा है। दक्ष प्रजापति कर्म की मार्यादाओं को स्थापित करने के लिए उत्पन्न किये गये थे। अतः कर्म करने में जैसे वे कुशल थे वैसा और कोई नहीं हो सकता। 'क्रियादक्षो दक्षः' क्रिया करने में अत्यन्त दक्ष थे। क्योंकि उन्होंने ही कर्मों को लोगों में प्रसारित किया था। एक सभा में वे पहुँचे। वहाँ विष्णु भगवान् , शंकर भगवान् और बाकी सब देवता भी पहुँचे थे। दक्ष प्रजापति के पहुँचने पर सब देवताओं ने उठकर उनका स्वागत किया। ब्रह्मा विष्णु और शंकर ये तीनों नहीं उठे।

दक्ष प्रजापति ने किसी समय में शक्ति की आराधना की थी। वरदान स्वरूप शक्ति से प्रार्थना की थी कि 'आप मेरे यहाँ जन्म लें। विवाह भगवान् शंकर से होगा। मैं प्रार्थना करता हूँ, आप मेरे घर ही जन्म लेवें।' शक्ति ने उसी समय कहा कि 'देखो, तुम जो बात कह रहे हो, वह तुम्हारे लिए ही कष्टदायक होगी। क्योंकि मैं भगवान् शंकर से विवाह करूँगी तो शंकर तुम्हारे दामाद हो जायेंगे।

तुम अपने को समझोगे कि मैं ससुर हो गया। और वे देवाधिदेव हैं। अतः कभी न कभी तेरे मने में 'यह मेरे दामाद हैं, मैं इनका ससुर हूँ' यह गर्व आयेगा। स्वाभाविक है। और यदि यह गर्व तुम्हारे अन्दर आया तो वह तुम्हारे ही नाश का कारण बनेगा।' इस प्रकार सावधान करने के बावजूद दक्ष प्रजापति ने कहा, ''नहीं, आप मेरे घर ही जन्म लीजिए, मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा।''

शक्ति का सती रूप से जन्म हुआ। काफी समय तक ठीक चलता रहा, पर रिश्ता ऐसा होता है कि मन के अन्दर विपरीत धारणा ले ही आता है। सभा में दक्ष प्रजापति ने सोचा कि ब्रह्मा खड़े नहीं हुए, यह ठीक है क्योंकि ये तो पिता हैं। विष्णु खड़े नहीं हुए क्योंकि ये दादा हैं। पर शंकर जमाई होकर नहीं खड़ा हुआ! इसको कुछ भी ढंग नहीं है। दक्ष प्रजापति वहाँ अण्ड-बण्ड बोलने लगे। 'इसको सहूर नहीं है, किससे क्या व्यवहार करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। नशा करता है। किसी योग्यतावाला नहीं है।' भगवान् शंकर हँसते रहे। उनको तो कोई फर्क पड़ता नहीं है। जब किसी से अण्ड-बण्ड व्यवहार करो और वह शान्ति से रहे तो तुमको और गुस्सा चढ़ता है। दक्ष प्रजापति वहाँ से गये और सोचने लगे कि इसका बड़ा भयंकर अपमान किया जाये।

कैसे किया जाय? उन्होंने निर्णय किया कि एक यज्ञ की पद्धति चलाते हैं, जिसके अन्दर भगवान् शंकर को कोई स्थान नहीं होगा। यज्ञ की पद्धति में रुद्रका स्थान होता है। पर दक्ष प्रजापति ने विचार किया कि कर्मों को चलानेवाला मैं एक नया कर्म चलाऊँगा जिसमें शंकर को कोई स्थान नहीं होगा। यह विचारकर उसने एक यज्ञ का विधान किया। सारे कर्मों का फल देनेवाले भगवान् शंकर हैं। सभी शास्त्रीय कर्मोंका फल देने में प्रतिभू तो वे हैं। उनके बिना यज्ञ कैसे होवे? उसने सब देवताओं को बुलाया उनसे कहने लगा 'देखो, यह शंकर भांग-धतूरा खानेवाला, नशा करनेवाला, कोई ढंग का नहीं है। दिगम्बर घूमता है चिताभस्म लगाता है। शुभ कर्मों के अन्दर इसका बहिष्कार करना चाहिए। सब यज्ञों के अन्दर यह एक बड़ा हिस्सा ले जाता है। इसका बहिष्कार करेंगे तो आप लोगों को भी एक बड़ा हिस्सा मिलेगा।' पहले तो देवताओं ने ना-नु किया। कैसे क्या होगा! दक्ष प्रजापति ने कहा, ''अरे! कर्म का विधाता मैं ही तो हूँ, क्यों

घबराते हो? '' देवताओं ने भी सोचा कि हमारा हिस्सा बढ़ जायगा, दक्ष प्रजापति कर्म के विधाता हैं। रुद्र का सारा हिस्सा हमें मिल जायेगा। सब लोग राजी हो गये।

यज्ञ का विधान हुआ। दक्ष प्रजापति स्वयं उसके यजमान बने। उन्होंने साक्षात् ऋषियों को बुलाया, यज्ञ के अन्दर पौरोहित्य करने के लिए। जब ऋषि लोग आये और उनसे कहा कि 'देखो! यह नये यज्ञ का विधान कर रहे हैं।' तब ऋषि कहने लगे, कि 'यह कैसे हो सकता है? बिना रुद्र के तो कोई यज्ञ सम्पन्न होता नहीं। यह तुमने नई चाल क्या चलाई?' प्रजापति ने कहा कि 'यह तो ऐसे ही करना है, जैसा मै कह रहा हूँ।' कुछ ऋषियों ने तो इसका घोर विरोध किया। परन्तु दक्ष प्रजापति ने अधिकतर ऋषियों से कहा कि 'मैं ही तो कर्म का विधान करनेवाला हूँ। अत: इस कर्म को करने में कोई हर्जा नहीं है।' कुछ ऋषियों ने स्पष्ट कह दिया कि 'जो तुम करने जा रहे हो, उससे आगे चलकर नुकसान तुम्हारा ही होगा। जो यहाँ रह रहे हैं उनका भी होगा।' कुछ ऋषि वहाँ से चले गये। बाकी ऋषियों ने यज्ञ शुरू किया।

देवर्षि नारदको इस बात का पता लगा। उन्होंने कैलास पर जाकर भगवान् शंकर से कहा कि ऐसा यज्ञ हो रहा है। शंकरजी हँसते रहे, कहने लगे, 'ठीक है, करने दो।' सती से नहीं रहा गया। वे कहने लगी कि 'मैं तो जाकर उनको समझाऊँगी, वे तो मेरे पिता हैं।' शंकर जीने मना किया, कहने लगे, 'अरे! क्यों वहाँ जाती है। अपने लोगों को निमन्त्रण पत्र भी नहीं आया, अत: क्यों जाना!' सतीने कहा, 'नहीं, पिता को समझाना मेरा फर्ज है। मैं तो जाऊँगी और पिता के यहाँ जाने के लिए निमन्त्रण की जरूरत नहीं है।' भगवान् शंकर समझ गये। सतीके मन में असली बात यह थी कि उसने कहा था, 'कभी भी भगवान् शंकर का अपमान किया तो तुम्हारे से उत्पन्न इस शरीर को मैं रखूँगी ही नहीं।' शंकरजी ने विचार किया कि 'वहाँ पहुँचकर जरूर यह कुछ न कुछ इस प्रकार का करेगी। अत: इसको अकेले भेजना ठीक नहीं है।'

यज्ञ हरद्वार में हो रहा था। कनखल में दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया था। जिसको आज वीरभद्रेश्वर कहते हैं, वहाँ आकर भगवान् बैठ गये। सतीसे कहा कि 'यहाँ तक हम आ गये, अब आगे तुम जाओ।' सती वहाँ गयी। सती को

देखकर दक्षने अपना मुँह मोड़ लिया। सतीने जाकर समझाया। उनको कहाँ समझना था! वे अण्ड-बण्ड बोलने लगे, अभद्र बातें बोलने लगे। सती ने निर्णय किया कि, 'जिसको इसने उत्पन्न किया, उस शरीर से अब मेरा सम्बन्ध नहीं रह सकता।' उन्होंने योग के द्वारा अग्नि में प्रवेश करके उस शरीर का परित्याग कर दिया।

जो शिवगण उनके साथ गये थे उन लोगों ने आकर भगवान् को यह खबर दी। सती के मरने की बात सुनकर भगवान् शंकर ने अपनी जटा का एक बाल उखाड़ा। वह बाल वीरभद्र हो गया। इसलिए उसको वीरभद्रेश्वर कहते हैं। उसको आज्ञा दी कि 'दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करो।' वीरभद्र ने वहाँ जाकर सारे देवताओं की खूब मरम्मत की। ऋषियों की भी मरम्मत की। पूषा देवता के दाँत तोड़ डाले। आज भी जब बलि देते हैं तो पूषा देवता को सत्तू की बलि देते हैं, उनके दाँत नहीं हैं, अतः वे चबा नहीं सकते। इसी प्रकार देवताओं की बुरी गति हुई। दक्षप्रजापतिका सिर काट दिया। सिर काटकर उसी यज्ञ कुण्ड में डाल दिया। वीरभद्र ने जाकर भगवान् से कहा, 'महाराज! सब हो गया।'

देवता शिवजी के पास पहुँचे। 'दक्ष प्रजापति मर गये हैं। अब कर्म का विधान कैसे होगा? भगवान् शंकर ने कहा, ''मर गया तो मर जाने दो। क्या किया जाय! '' देवताओं ने कहा कि 'नहीं, प्रजापति के बिना यह चले ऐसा सम्भव नहीं है, आपको कुछ करना ही पड़ेगा।' तो भगवान् शंकर वहाँ गये। देखा, उसका सिर कटा हुआ है। वीरभद्रसे कहा, ''अरे! इसका सिर ले आओ, कहाँ काटकर डाला।'' उन्होंने कहा कि 'मैंने तो यज्ञकुण्ड में डाल दिया।' उन्होंने कहा कि 'जाओ, कहीं से एक सिर ले आओ। उसके धड़ के ऊपर लगा देंगे।' भगवान् शंकर के गण तो गण ही थे! बाहर गये। एक बकरा खड़ा था, उसका सिर काटकर ले आये। भगवान् शंकर ने कहा कि 'यह क्या ले आये! ठीक है, जो ले आये, सो ले आये।' दक्ष के धड़ पर बकरे का सिर लगा दिया। दक्ष पुनर्जीवित हो गया। भगवान् शंकर से प्रार्थना की कि 'महाराज! मुझसे बड़ी गलती हो गई।' इसलिए अभी भी जब शंकरजी के मन्दिर में जाते हैं तो बकरे के ढंग की आवाज निकालते हैं यह बतलाने के लिए कि हमारे अन्दर भी

कर्माभिमान है, वैसा ही जैसा दक्ष के अन्दर था। परन्तु आपने उनको भी शरण दी। अतः कर्माभिमान होने पर भी आप हमको भी शरण देवें।

उस यज्ञ में पुरोहित कौन थे? ऋषि ही थे। 'सुरगणाः सदस्याः' देवता वहाँ सशरीर आकर बैठे थे। परन्तु उस यज्ञ के अन्दर दक्ष ने श्रद्धाविधुरता दिखवाई थी। कहीं भी वेदों के अन्दर बिना रुद्र की बलि के यज्ञ का विधान नहीं है। जब वेद में लिखा है तो वैसा न मानकर 'कर्म का बनानेवाला मैं हो गया' इस अभिमान से श्रद्धा से रहित हो गया था। सारे यज्ञों के फल का विधान करने में भगवान् ही तत्पर रहते हैं। श्रद्धा से रहित चाहे जप करो, तप करो, दान करो, यज्ञ करो, पूजा करो, श्रद्धा से रहित जो तुम कर्म करोगे, वह तुम्हारे ही नाश का कारण होगा।

बार-बार क्रतु शब्द का प्रयोग है। क्रतुका अर्थ है, संकल्पपूर्वक जब किसी क्रिया में प्रवृत्त हुआ जाये। श्रद्धा होगी, तब संकल्पपूर्वक कर्म करोगे। संकल्प अर्थात् सम्यक् कल्प। कर्म करने के ढंग का विधान करने वाले ग्रन्थों का नाम कल्पसूत्र है। जैसा कल्पसूत्रों के अन्दर विधान किया है, ठीक वैसा करने में प्रवृत्ति हो, ऐसे कर्मो के बारे में यह बात कही जा रही है।

आजकल यह बात बहुत चलती है कि 'मन को शुद्ध रखना चाहिए, क्रिया में क्या है! मन का भाव शुद्ध होवे। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' जो लोग ऐसा कहते हैं, उनसे कहें, 'हमारा मन बहुत शुद्ध है। बड़े शुद्ध मनसे हम गिलास में दूध पीने को लाये हैं, उसके बाहर सुअर की टट्टी लगा दी है। पर हमारा मन और दूध भी बहुत शुद्ध है, पी लो।' तो क्या वह पीने के लिए तैयार हो जाते हैं? ठीक इसी प्रकार कर्म यदि शास्त्रीय नियमों के अनुसार नहीं किये जाते हैं तो यह मानकर कि मन ठीक है, भाव ठीक है, सब कुछ ठीक हो जायेगा- ऐसी बात नहीं।

इसलिए यहाँ 'क्रतु' शब्द का तीन बार प्रयोग किया। संकल्प-पूर्वक जब हम कर्म करते हैं, विधान-पूर्वक जब करते हैं, तब उसका फल देने के लिए भगवान् हमेशा जागरूक रहते हैं। उससे रहित यदि हम करते हैं तो जैसे दक्ष का

नुकसान हुआ वैसे ही हमारा भी होता है।।२१।।

श्लोक-२२

प्रथम नौ श्लोकों के अन्दर वेदान्त के विषयों का विचार किया। दसवें से -इक्कीसवें तक, ग्यारह श्लोकों के अन्दर कुछ पौराणिक कथाओं पर विचार किया। पुराणों के अन्दर कुछ लीला-कथाएँ हैं, कुछ अध्यात्म-अधिज्योतिष कथाएँ भी हैं। लीला-कथाओं को आधिदैविक कहते हैं, देवताओं की कथाएँ। ज्योतिष् सम्बन्धी को अधिज्योतिष कहते हैं। और अपने अन्दर होनेवाले को आध्यात्मिक कहते हैं। अधिलोक वर्णन भी पुराणों में है। अधिलोक, अधिदैव, अधिज्योतिष और आध्यात्मिक इन चार में पुराणों की कथाएँ बँटती हैं। अधिलोक कथाएँ प्रायः वर्णनात्मक हैं, लीला के रूप में नहीं हैं।

दक्षका विचार आया। दक्ष ज्योतिष्- सम्बन्धी भी है, और प्रजानाथ होनेसे देव-सम्बन्धी भी है। दक्ष की सत्ताईस कन्याएँ नक्षत्र हैं। कन्या तो उनकी ज्यादा हैं पर सत्ताईस कन्याओं को उन्होंने एक चन्द्रमा को ब्याह दिया था। दक्षका अधिज्योतिष रूप भी है। अब इस अधिज्योतिष कथा का वर्णन करने के लिए, शुक्ल यजुर्वेद में शतपथ ब्राह्मण में आयी कथा का पौराणिक रूप बताते हैं-

प्रजानाथं नाथ ! प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः।।२२।।

(पदच्छेदः)

प्रजानाथं नाथ ! प्रसभम् अभिकम् स्वाम् दुहितरम्
गतं रोहिद्भूताम् रिरमयिषुम् ऋष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेः यातम् दिवम् अपि सपत्राकृतम् अमुम्
त्रसन्तम् ते अद्य अपि त्यजति न मृगव्याधरभसः।।

(सान्वयार्थः)

नाथ! = हे दुष्टों का दमन करने वाले! **रोहिद्भूताम्** = लज्जा से

हरिणी बनी हुई **स्वाम्** = अपनी ही **दुहितरम्** = पुत्री से (सन्ध्या से) **प्रसभम्** = जबर्दस्ती **ऋष्यस्य** = मृग के **वपुषा** = शरीर द्वारा **रिरमयिषुम्** = रमण करने की इच्छा से **गतम्** = गये हुए. **अभिकम्** = काम से मर्यादा का उल्लंघन करने वाले **प्रजानाथम्** = धर्मप्रवर्तक ब्रह्मा को **दिवम्**[1] = आकाश में **यातम्** = चले जाने पर **अपि** = भी **ते** = आपके **धनुष्पाणेः** = हाथ के धनुष से छूटा हुआ **मृगव्याधरभसः** = हरिणों को मारने वाले व्याध के समान उत्साही वाण **सपंत्राकृतम्** = पर समेत तीर घुसे की पीडा से **त्रसन्तम्** = पीडित **अमुम्** = उसको (ब्रह्मा को) **अद्य** = आज **अपि** = भी **न** = नहीं **त्यजति** = छोड़ता है।

(१–ब्रह्मा आकाश में जाकर मृगशिरा नक्षत्र बन गया तो भगवान् शंकर का अमोघ बाण भी आर्द्रा नक्षत्र बन गया। मृगशिरा के पीछे आर्द्रा नक्षत्र चलता है। इसी पर यह रूपक है।)

शतपथ ब्राह्मण के अन्दर कथा आती है। सूर्य प्रजाओं के नाथ हैं क्योंकि सूर्य के आधार पर ही हमारा सारा जीवन चलता है। पशु, पक्षी, पेड़, पौधा, घास, मनुष्य, मछली आदि जलचर सभी का आधार सूर्य है। बिना सूर्य के जीवन सम्भव नहीं है। पेड़-पौधे उनके फल-फूल सभी उसी से उत्पन्न होते हैं। अगर किसी बड़े पेड़ के नीचे, घास उगाना चाहें तो घास नहीं उगती। माली से पूछोगे तो कहेगा, 'यहाँ धूप नहीं लगती। अत: घास नहीं उगती।' यदि पेड़-पौधों से कुछ उत्पन्न नहीं होगा तो आगे पशु-पक्षी क्या खायेंगे? कहोगे कि, मांस खा लेंगे! तो मांस किसका खायेंगे? अत: जिसको भी खायेंगे, उसको अन्ततोगत्त्वा घास खाकर ही काम निकालना पड़ेगा। हरिण, बकरा, गाय, भैंस ये सब घास, पेड़-पौधे खायेंगे तभी शेर आदि इनको खा सकेंगे। कोई सोचे कि मांस खाकर ही संसार चल सकता है तो एक दिन भी नहीं चल सकता। उल्टा पेड़-पौधा न खानेवाले का शेर-चीते आदि का, मांस भी प्राय: नहीं खाया जाता। अत: सूर्य के आधार पर जितनी प्रजाएँ हैं, जीवित प्राणी हैं, वे चलते हैं, जिससे सूर्य को प्रजानाथ कहा जाता है।

शतपथ ब्राह्मण के अन्दर एक रूपक बनाया है। सूर्य जब उदय होता है तब सूर्य के आगे उषा चलती है। सूर्य के उदय होने से पहले जो लाली आती है उसे

उषा कहते हैं। लाली किससे पैदा होती है? सूर्य से ही पैदा होती है और उस लाली के पीछे सूर्य चलता है। अत: रूपक के ढंग से कहा गया- सूर्यरूप प्रजानाथ अपनेसे उत्पन्न हुई अपनी लड़की के पीछे चलता है। और चूँकि लड़की के पीछे जा रहा है, अत: लड़की शर्मसे लाल हो गयी है। प्राचीनकाल में वर्ष शुरू होता था मार्गशीर्ष से अत: गीता में मार्गशीर्ष को श्रेष्ठ मास बताया - 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'। मार्गशीर्ष के मास में यदि देखो तो सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में होगा और उसके पीछे आर्द्रा नक्षत्र होगा। मृगशिरा नक्षत्र के दो 'सींग' होते हैं। आकाश में देखो तो कुछ तारे इस प्रकार झुके होते हैं कि मृग के सिर जैसे लगते हैं अत: उसका नाम रखा गया है मृगशिरा नक्षत्र। मृगशिरा नक्षत्र युक्त जब पूर्णिमा होती है तब मार्गशीर्ष मास होता है। मृगशिरा के पीछे चलने वाला है आर्द्रा। मृगशिरा के अन्दर जब सूर्य होगा तब आगे उषा चलेगी, फिर सूर्य होगा, और इसके पीछे आर्द्रा होगा। आर्द्रा को देखोगे तो वह बाण की तरह होगा। चार तारे सीधे होते हैं, और आगे दो तारे निकले होते हैं अत: आर्द्रा बाण की तरह दीखता है। शतपथ ब्राह्मण ने यह रूपक बनाया कि सूर्य उषा के पीछे जा रहा है। 'पिता मेरे पीछे आ रहे हैं' यह सोचकर उषा लाल हो गई है। उस सूर्य को भगवान् शंकर आर्द्रा नक्षत्र रूप बाणसे मार रहे हैं। इस ज्योतिष की स्थिति को शतपथ ब्राह्मण ने रूपकके द्वारा बताया। वहाँ से यह अधिज्योतिष कथा पुराणों के अन्दर आयी।

पूछो कि इसे सीधा ही क्यों न मान लें? शतपथ ब्राह्मण की कथा से पुराण की इस कथा को दूसरा ही क्यों न मान लें? इसका सूत्र रूप में उत्तर बता दिया 'अद्यापि न त्यजति' आज भी वह बाण नहीं छोड़ रहा है। इसका मतलब है कि यह किसी एक समय में होनेवाली लीला नहीं हो सकती। 'अद्यापि' आज भी यह लीला चल रही है। इसलिए जो शतपथ ब्राह्मण का रूपक था उसी के आधार पर पुराणों में कहा और उसी के आधार पर इस स्त्रोत्र में कहा।

सम्बोधन किया 'नाथ!' नाथ का मतलब क्या होता है? आजकल का तो पता नहीं, सब आधुनिक हो रहे हैं, पुराने जमाने में जब विवाह होता था तब नथ पहनायी जाती थी और सधवा स्त्री हमेशा नथ पहनती थी। एकबार हम बद्री

नारायण से आगे, माना गाँव में गये। वहाँ की औरतों की नथ इतनी मोटी है जितनी हमारी छोटी अंगुली होती है। आजकल किसी से कहो तो कहेंगी, 'नाक कट जायगी।' अरे! नाक कहाँ से कट जायेगी नथ से। जो नथ बाँधता है, जिसके होने पर स्त्री नथ पहनती है, वह उसका नाथ हुआ। इसी प्रकार भगवान् शंकर इस प्रकृतिरूप सारी सृष्टि का नथन करते हैं। उनके कारण ही यह प्रकृति शोभावाली है। इसलिए हमारे यहाँ जब तक पति होता है तब तक स्त्री को सौभाग्यवती कहते हैं। पति के मरने के बाद चाहे उसके पास जितनी सम्पत्ति हो, उसे सौभाग्यवती नहीं कहते, पति ही पत्नी को शोभा देता है क्योंकि वही उसको नथ कर रखता है। इसी प्रकार भगवान् शंकर प्रकृति की शोभा बढ़ाने वाले हैं। सुन्दर से सुन्दर स्त्री आजकल जो विश्व-सुन्दरियाँ हैं, वह भी मरी पड़ी होवे तो क्या कोई उसे सुन्दर समझेगा? कहेगा इसे जला दो। यह तो कोई नहीं कहेगा कि 'यह बहुत सुन्दर है, इसको मत जलाओ।' ठीक इसी प्रकार प्रकृति की शोभा चेतन परमेश्वरसे है, उससे रहित हुई तो यह विधवा की तरह है।

आजकल हमारे जीवन में इतना दुःख बढ़ रहा है, असौभाग्य बढ़ रहा है, उसका मूल कारण यही है कि हम प्रकृति को देखते हैं, प्रकृति की शोभा, प्रकृति की सुन्दरता, जिस चेतन परमेश्वरसे है उसकी तरफ नहीं। उल्टा यह मानकर चलते हैं कि चेतन नाम की कोई चीज है ही नहीं। आधुनिक लोगों का कहना है कि यह जो तुम्हारा भेजा (दिमाग) है, बस उसी से चेतनता की घटना हो जाती है। प्राचीन काल में कहते थे, पान, कत्था, चूना मिलकर लाल रंग हो जाता है। वैसे ही अब कहते हैं कि दिमाग अच्छी तरह से बना हुआ एक कम्प्यूटर है। इसलिए चेतन नाम की कोई चीज नहीं।

इसलिए हम अपराधी को कोई दण्ड नहीं देते, कहते हैं, 'उसका दिमाग खराब हो गया जी!' दिल्ली में कई बार हत्या हो जाती है। लोग कहते हैं, अरे! उसका दिमाग खराब हो गया था। मायने, उस आदमी की कोई गलती नहीं है। अथवा कहते हैं 'परिस्थितियों के वशीभूत होकर किया'। आजकल की 'परिस्थितियों' में यह भी आ गया है कि 'टेलीविजन से सीखकर इसने यह किया'। सीखने वाले की स्वतन्त्रता नहीं मानते। हर परिस्थिति के अन्दर जड

को प्रधानता देते हैं। जितना-जितना चेतन को गौण करोगे, परमेश्वर को छोड़ते जाओगे, उतना ही उतना अशिव बनते जाओगे। अतः शास्त्रकारों ने कहा, 'अहो शिवं द्वेष्टि शिवेतरो जनः'। जो शिव से इतर, अर्थात् कल्याण से हटता है, वह 'शिवं द्वेष्टि' भगवान् शिव से द्वेष करता है। भगवान् शंकर ही इसके नाथ हैं।

सौभाग्य की विशेषता क्या होती है? गलती करनेवाले को समय से दण्ड देना; उसी से शोभा बढ़ती है। अगर तुम किसी को गलती करने पर दण्ड नहीं दोगे तो वह अधिकाधिक बिगड़ता जायगा। चाहे जितना भी बड़ा होवे अपराधी को दण्ड देना ही चाहिए। इस लीला के द्वारा यह संकेत दे रहे हैं कि प्रजानाथ इतना बड़ा होने पर भी विश्वनाथ द्वारा दण्डनीय ही है। दक्षको क्रतुपति कहा था, सूर्य को प्रजानाथ कह रहे हैं। नक्षत्रों के समूह से सम्बन्धित सूर्य प्रजानाथ हैं।

हे नाथ! अपनी ही शर्म से लाल हुई पुत्री के साथ मानो जबरदस्ती रमण करने के लिए प्रजानाथ जा रहे हैं। अतः उन्होंने मृगका रूप लिया है। पुराणों में कथा है कि उषा शर्म से सिर्फ लाल ही नहीं हो गई थी, उसने अपना स्वरूप छोड़कर हरिणी रूप लिया था। इसलिए प्रजानाथ ब्रह्मा ने हरिणी से समागम करने के लिए हरिण का रूप लिया था। क्यों जा रहे थे? अत्यन्त कामना से ग्रस्त होने के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल गये कि क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए। प्रजानाथ हैं अतः अभिमान हो गया कि 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ।'

जब हाथ में सत्ता आती है तब मनुष्य प्रायः भ्रष्ट हो जाता है, और यदि सत्ता पर कोई नियन्त्रण नहीं हो तो वह पूर्णतया भ्रष्ट हो जाता है। संसार के दो प्रसिद्ध ऐश्वर्य हैं - राज्य और धन। वैदिक समाज में राज्य की सत्ता और धन की महत्ता दोनों के ऊपर ब्राह्मण का नियन्त्रण है। ब्राह्मण के हाथ में न सत्ता है, न धन है। दोनों ही उसके पास नहीं हैं। दोनों प्राप्त करने का उसे अधिकार भी नहीं दिया गया है। परन्तु दोनों पर नियन्त्रण ब्राह्मण का होगा। अतः हमारी समाजव्यवस्था अनियन्त्रित नहीं थी।

वर्तमान-काल में यह सत्ता बिलकुल भी नियन्त्रित नहीं है। पार्लियामेन्ट जो भी चाहे कर सकती है, उसके ऊपर नियन्त्रण किसी का नहीं। लोग कहेंगे कि जनता का नियन्त्रण तो है! जनता सत्ता-नियन्त्रण तो कर नहीं सकती। मान लो सारे हिमाचल प्रदेश के लोगों ने चार आदमियों को वोट दिया। जिस पार्टी के वे चार आदमी हैं वह केन्द्र में सत्ता में आयी नहीं तो जिन लोगों ने चार लोगों को वोट दिया था, उनकी कुछ गिनती रही क्या? उनके हाथ में क्या सत्ता रही? इसलिये सत्ताधारी को नियन्त्रित करनेवाला कोई नहीं है। जब इस प्रकार से अनियन्त्रित सत्ता आती है तब व्यक्ति कामना से ग्रस्त होकर अनुचित कार्य करने लग जाता है कि 'मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है'।

जब इस प्रकार ब्रह्मा पुत्री के पीछे गये, भगवान् शंकर धनुष लेकर ब्रह्मा के पीछे दौड़े। ब्रह्माजी द्युलोक चले गये, आकाश में चले गये कि बच जायेंगे। परन्तु द्युलोक में, आकाश में जाने पर भी शंकर जी के बाण ने पीछा नहीं छोड़ा। क्यों भागकर गये? पीछे से बाण जो आ रहा है! उससे अत्यन्त त्रास को प्राप्त कर रहे हैं 'अभी मारा, अभी लगा'। आपका त्रास देने वाला वह जो बाण है आज भी पीछा नहीं छोड़ रहा है, क्योंकि आज भी मृगशिरा नक्षत्र के पीछे हमेशा आर्द्रा ही आयेगा। इसके द्वारा बतलाया कि यदि ब्रह्मा, या सूर्य को भी दण्ड दिया जा सकता है, तो परमेश्वर के लिए कोई भी अदण्ड्य नहीं है। और अपराध करनेवाला, चाहे जितना बड़ा होवे, भगवान् उसको अवश्य दण्ड देते हैं। दण्ड हमेशा उसे दिया जाता है जिसने अपराध किया हो। जब एकबार यह मान लोगे कि अपराध करने वाला कोई नहीं, परिस्थितियाँ अपराध कराती हैं, दिमाग खराब हो जाता है, जीव की कोई गलती नहीं है, तब दण्ड देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आजकल राजा तो क्या, घर में बच्चा यदि गलती करता है तो भी दण्ड नहीं देते! कहते हैं, 'इसका व्यक्तित्व दब जायगा'। सोचते हैं कि व्यक्तित्व दुष्कर्म के द्वारा सौभाग्य बन जायगा।

व्यक्ति का मतलब है जो तुम्हारा आत्म-तत्त्व है वह व्यक्त होवे, प्रकट होवे। जब तुम्हारे पुण्य कर्म प्रकट होंगे तब व्यक्तित्व है, नहीं तो व्यक्तित्व कहाँ है, दुष्ट लोगों का व्यक्तित्व तो नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जब संस्कारों

के द्वारा किसी को सुधारते हैं, उसका व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है अन्यथा उसका व्यक्तित्व दबा हुआ है। प्रकृति की प्रधानता होती जा रही है। भगवान् ने इस लीला के द्वारा यह बताया कि कोई भी ऐसा नहीं जो मेरे लिए अदण्ड्य हो। जो अपराध करता है उसको दण्ड अवश्य मिलना चाहिए, उसको दण्ड द्वारा सुधारना ही चाहिए।।२२।।

श्लोक-२३

लीला प्रसंग के प्रारम्भ में अधिलोक का निरूपण किया। फिर अधिदैव का काफी निरूपण हुआ। अधिज्योतिष का भी वर्णन हुआ। अब दो आध्यात्मिक लीलाओं का वर्णन करते हैं।

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन! पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत ! देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद ! मुग्धा युवतयः।।२३।।

(पदच्छेदः)

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषम् अह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन ! पुष्पायुधम् अपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत ! देहार्धघटनात्
अवैति त्वाम् अद्धा बत वरद ! मुग्धाः युवतयः।।

(सान्वयार्थः)

पुरमथन = हे प्रलय काल में समस्त संसार का नाश करने वाले! **स्वलावण्याशंसाधृतधनुषम्** = अपने सौन्दर्य पर विश्वास रखकर भगवान् शंकर पर धुनष तानने वाले **पुष्पायुधम्** = कामदेव को **पुरः** = अपने सामने ही **तृणवत्** = तिनके की तरह **अह्नाय** = शीघ्र **प्लुष्टं** = जला हुआ, **दृष्ट्वा** = देखकर **अपि** = भी **यदि** = अगर **देवी** = पार्वती **त्वाम्** = आपको **देहार्धघटनात्**[1] = अर्धनारीश्वर रूप धारण करने के कारण **स्त्रैणम्** = नारी के अधीन **अवैति** = समझे (तो) **यमनिरत**[2] ! = हे यमादि योगपरायण ! **वरद!**= पार्वती को अति दुर्लभ वामांग देने वाले! **अद्धा**=ठीक ही है **बत** =

(क्योंकि) अहो युवतयः = नवजवान रमणियाँ मुग्धाः = (स्वभाव से ही) समझहीन अज्ञानी हुआ करती हैं।

(१–भगवान् शंकर ने "पार्वती ने मेरे लिए बड़ा तप किया है और दुःख उठाया है इसलिए उसे विरह दुःख से उबार लूँ" इस इच्छा से उनको अपने अत्यन्त दुर्लभ वामांग में धारण कर लिया। यही अर्धनारीश्वर रूप है। २–इस सम्बोधन से भगवान् का सर्वदा जितेन्द्रियत्व बताया। इसलिये वे नारी के अधीन कभी नहीं हो सकते।)

इस श्लोक के अन्दर तीन विशेषणों से भगवान् को सम्बोधित करते हैं-हे पुरमथन हे यमनिरत हे वरद! इसके द्वारा अध्यात्मपक्ष को स्फुट करते हैं। अधिदैवका वर्णन करते हुए पहले कामदहन की लीला आ चुकी है। कामदेव को पुष्पायुध भी कहते हैं, फूल उसके आयुध हैं। किसी पर यदि तुम फूल डालते हो तो वह प्रसन्न ही होता है, नाराज नहीं होता है। जैनी-लोग जब मन्दिर की प्रतिष्ठा करते हैं तब हवाई जहाज के अन्दर फूलों को ले जाकर फूलों को बरसाते हैं। पुष्प ऐसा आयुध नहीं है जो किसी को कष्टदायक होवे। इसी प्रकार कामदेव हमें जिस आयुध से मारते हैं वह हमें अप्रिय नहीं लगता। कामना की पूर्ति करने में हमें प्रसन्नता ही होती है। ऐसा नहीं कि जबरदस्ती हमें कोई कामना में लगा रहा है। उलटा यदि कोई कामना में रुकावट डालता है, तब हमें बुरा लगता है। अतः कामना को यहाँ पुष्पायुध कहा। जिन बाणों को वह मारता है वह फूल के बाण हैं।

ऐसा जो 'पुष्पायुध' वह धनुष लेकर आया भगवान् शंकर पर बाण मारने के लिए। सहारा क्या लिया? कामना किसी विषय का ही सहारा लेकर आक्रमण करती है जैसे रसगुल्ले को खाने की इच्छा। शिवजी पर आक्रमण करने के लिये कामदेव ने किसे आधार बनाया? रसगुल्ले की इच्छा हमें कैसी लगती है? बड़ी बढ़िया लगती है। रसगुल्ला हम को मिल जाए तो क्या बात है! बड़ा बढ़िया लगता है। अपने मनका काम होता है तो लोग कहते हैं 'आजके आनन्दकी जय।' 'सच्चिदानन्द की जय' नहीं, क्योंकि वह तो नित्य आनन्द है। रसगुल्ला मिल गया तो आनन्द आ गया और कल बाजरे का सोगरा मिलेगा तो आनन्द नहीं

आयेगा। काम हमको अच्छा लगता है पुष्पायुध होने से। किसी न किसी विषय को आश्रय करके, उसका सहारा लेकर कामना होती है।

कामदेव ने सहारा लिया पार्वती के लावण्य का। पार्वती के सौन्दर्य से ही उसने आशा रखी थी कि 'पार्वती के सौन्दर्य द्वारा मैं भगवान् शंकर में कामना उत्पन्न करके, प्रवृत्ति करा दूँगा।' पार्वतीजी ने देखा कि मेरे सौन्दर्य के आधार पर पुष्पायुध ने धनुष लिया। परन्तु हुआ क्या? उसी समय तुरन्त तृण की तरह जलकर कामदेव खत्म हो गया। यह पार्वतीजी ने सामने ही देखा। इधर-उधर की सुनी-सुनायी बात नहीं। सामने ही उसने जलते देख लिया था।

पार्वतीजी ने बाद में बड़ी तपस्या की। उस तपस्या के फलस्वरूप भगवान् शंकर ने उनका पाणिग्रहण किया, उनको स्वीकार किया उन्हें अपने शरीर का आधा हिस्सा बना लिया है, वह तपका फल है। शंकर ने पार्वती को अपने शरीर के आधे भाग में बैठा लिया, अपने से अभिन्न कर लिया। कहीं-कहीं भगवान् शंकर की अर्द्धनारीश्वर मूर्ति भी होती है जिसमें आधा शिवका रूप है, आधा शिवा का रूप है। एक स्तोत्र भी है, 'अर्द्धनारीश्वरस्तोत्रम्' 'चाम्पेय-गौरार्द्धशरीरकायै' इत्यादि। तो यह जो देहार्ध घटना, 'इन्होंने मुझे अपने शरीर के आधे भाग में, वामभाग में स्थित कर लिया' -इससे यदि देवी सोचती है कि मेरे वश में हो गये, तो यह उनका सोचना सही नहीं होगा।

अपने यहाँ स्त्री के वश में होने को अत्यन्त निषिद्ध कर्मों में गिना जाता है। उपनिषदों में आता है कि एक राजा ने किसी महात्मा से कहा 'यह भेंट ग्रहण कर लेवें।' महात्मा ने मना कर दिया 'तुम्हारी भेंट नहीं लेंगे।' राजा ने पूछा, 'क्यों नहीं लेंगे? मेरे राज्य में होनेवला कोई भी पुरुष स्त्री के वश में नहीं है। यदि मेरे राज्य में कोई पुरुष ऐसा होता तो राजा होने के नाते मैं भी उस दोष का भागी होता। कोई भी दोष प्रजा में होता है तो राजा उसमें भागीदार होता है। किंतु ऐसा पाप करनेवाला हमारे राज्य में कोई नहीं है।' फिर राजा ने कहा कि 'कोई कदर्य नहीं है, मद्यप नहीं है।' वर्तमान काल में क्रम विपरीत है। स्त्रैण न हों ऐसे लोगों को ढूँढना मुश्किल होता है! अधिकतर लोग स्त्रियों के वश में हैं। यदि देवी ऐसा सोचती हैं कि 'भगवान् शंकर मेरे वश में हो गये' तो यह कोई बड़ी आश्चर्य की

बात नहीं है क्योंकि निश्चित है कि स्त्रियाँ झट से मोह में पड़ जाती हैं!

इसको हेतुगर्भ विशेषण समझें। स्त्रैण क्यों नहीं होना चाहिए? स्त्री मुग्ध होती है। उनके वश में होगे तो तुम भी मुग्ध ही होगे। स्त्रैण नहीं होने में यह हेतु बताने वाला विशेषण समझो। मुग्ध होने का मतलब होता है अच्छे-बुरे को समझने की क्षमता का अभाव हो जाना। जब किसी चीज पर मुग्ध हो जाता है तब व्यक्ति भला-बुरा सोचने का धैर्य नहीं रखता। बढ़िया सुन्दर, गुलाबजल डाला हुआ रसगुल्ला सामने आ गया। आप मुग्ध हो जाते हैं। आज पेट खराब है, नहीं खाना चाहिए। परन्तु 'इतना बढ़िया रसगुल्ला है, थोड़ा तो खा ही लूँ'। जब उस पर मुग्ध हो गया, तब कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विचार गया। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए यह विवेक नहीं रहता। इस सारी लीला का तात्पर्य बतला दिया कि मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये।

पहला विशेषण दिया, पुरमथन! त्रिपुरासुर को समाप्त करनेवाले। इसके द्वारा अध्यात्म दृष्टि से बतला रहे हैं कि जीव अध्यात्मजीवन के अन्दर आगे बढ़कर पुरमथन, त्रिपुरासुर का संहार करता है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनों शरीरों का बाध करता है। 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य के द्वारा ही यह बाध होता है कि न मैं स्थूल शरीर हूँ. न सूक्ष्म शरीर, न कारण शरीर, न विश्व हूँ, न तैजस हूँ, न प्राज्ञ हूँ। नामरूप सलोने हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं। इतने सुन्दर हैं कि सारे शास्त्र इनके मिथ्यात्वका प्रतिपादन करते हैं तब भी वैराग्य नहीं होता है। कहीं भी शास्त्रों ने नहीं कहा कि नामरूप के पीछे जाना चाहिये, बिना किसी शास्त्र की आज्ञा के जाते नामरूप की तरफ ही हैं। कारण कि अत्यन्त सलोना रूप है इस संसार का। माया के नामरूपात्मक जगत् की सुन्दरता का सहारा लेकर ही कामदेव सबको अपने वश में करता है। परन्तु जब तत्त्वमस्यादि वाक्य के द्वारा हम त्रिपुरहर बन गये, तब हमारे सामने, अर्थात् ज्ञान की साधना में लगकर के जिसने ब्रह्माकार वृत्ति बना ली उसके सामने जब कामना आती है हम उसको तुरन्त जला देते हैं। लावण्य किसके लिए है? स्थूल, सूक्ष्म शरीर के लिए। वह स्थूल, सूक्ष्म, शरीर मैं हूँ ही नहीं तो लावण्य की ओर कैस आकृष्ट हो सकता हूँ? जिस प्रकार चाहे जितनी सुन्दरी सुअरी होवे, परन्तु क्या मनुष्य उससे भोग करने की इच्छा करता

है?. सुअर की इच्छा सुअरी से भोग की होगी, पर मनुष्य की कामना नहीं होगी क्योंकि वह सुअर नहीं है। सुअरी, सुअर को ही आकृष्ट कर सकती है, दूसरी योनि वाले को नहीं। इसीप्रकार स्थूल, सूक्ष्म शरीरवाले को ही ये नागरूप आकृष्ट कर सकते हैं। जो स्थूल सूक्ष्म से रहित है, उसको नाग-रूप आकृष्ट नहीं कर सकते। इसलिए काम वहाँ जल जाता है, माया के सामने जल जाता है, अविद्या के सामने जल जाता है।

जब पुरमथन हो गये तब यमनिरत। उसके बाद भी अपने नियन्त्रण को अर्थात् मनोनाश वासनाक्षयरूप जो शमन है, उसके अन्दर निरत रहना चाहिये, नियम से उसके अन्दर रति करनेवाला बनना है। तत्त्वज्ञान, मनोनाश, वासनाक्षय- इनमें तत्त्वज्ञान प्रधान है, उसके बाद मनोनाश वासनाक्षय के अन्दर लगना पड़ता है, इसलिए पुरमथन के बाद कहा, 'यमनिरत'। जो इसके लिये लगा हुआ है, उसके सामने अविद्या का जो शेष है उससे यत्किंचित् प्रवृत्ति हो जाती है। लेशाविद्या, अविद्यागन्ध अविद्याछाया आदि से जिसे कहा जाता है उस लेशाविद्या के कारण ही प्रारब्ध प्रवृत्ति कराता है। यदि लेशाविद्या प्रारब्ध-भोग कर रहे ज्ञानी को देखकर यह सोचे कि 'अभी भी उसके ऊपर मेरा वश है' तो उसकी मुग्धता ही होगी।, जब तक प्रारब्ध भोग है तब तक लेशाविद्या ज्ञानी के अर्धभाग में रहेगी ही। लेशाविद्या तो क्या सोचेगी! परन्तु लेशाविद्या के द्वारा होनेवाले व्यवहारों को देखकर लोग सोचते हैं कि 'यह अभी भी प्रारब्ध के अधीन होने से माया के अन्तःपाती है।' अविद्या सोचती है अर्थात् अविद्या वाले सोचते हैं। ज्ञानी लेशाविद्या के साथ तभी तक रहेगा जब तक प्रारब्ध है। लेशाविद्या ही प्रारब्धभोग कराती है।

ज्ञान होने के पहले तो हमारा वास्तविक स्वरूप ढका हुआ है, काल्पनिक स्वरूप दीख रहा है। अर्थात् 'मैं शरीरादि हूँ' यह तो प्रतीति हो रही है और मैं 'सच्चिदानन्द प्रपंचोपशम शान्त शिवस्वरूप हूँ' यह प्रतीति नहीं हो रही है। जीवन्-मुक्ति में दोनों साथ हैं। अपनी सच्चिदानन्द शिवरूपता की भी प्रतीति है और साथ में प्रारब्ध भोग के कारण शरीरादि की भी प्रतीति है। इस स्थिति में उसको देखकर लोग सोचते हैं कि यह लेशाविद्या के, प्रारब्ध के वश में ही है।

भूख लगती है तो झट रोटी के लिए भिक्षा माँगने चला जाता है। बहुत से लोग कहते भी यह हैं कि 'भिक्षाटन आदि की प्रवृत्ति करते हो तो बाकी दुनिया के कर्मों में प्रवृत्ति क्यों नहीं करते? वह भी करनी चाहिए' आजकल तो अधिकतर लोगों का यही कहना है कि महात्माओं को परमात्मचिन्तन छोड़कर इस संसार की तरफ देखना चाहिए। उसका आधार क्या है? जब तुम भिक्षाटन कर रहे हो तो अन्य कर्म भी करो। वे सोचते हैं कि भिक्षाटन में प्रवृत्त होने पर वह स्त्रैण हो गया, अविद्या के वश में हो गया।

यह उन लोगों का दोष नहीं है! मुग्ध हैं। वे देखते हैं कि नामरूप के अन्दर कुछ हुआ तो उसे सच्चा समझते हैं और नाम-रूप से परे जो ज्ञान हुआ, उसका उन्हें पता नहीं चलता! अविद्या के कारण लोग नामरूप को ही ठीक समझते हैं अत: ज्ञान की परीक्षा भी वे नाम-रूप में करना चाहते हैं।

अभी थोड़े दिन पहले हम दिल्ली में थे। कहीं 'वेदान्त से किस प्रकार अच्छा व्यापार हो सकता है' इस विषय पर किसी ने प्रवचन माला रखी थी। व्यापारियों के लिये होने के कारण, उसे सुनने की दो हजार रूपये फीस भी रखी थी! हमसे किसी ने आकर के पूछा 'वेदान्त से इस प्रकार का लाभ हो सकता है? वेदान्ती बहुत बढ़िया मैनेजमेन्ट कर सकता है?' हम कुछ बोले नहीं। उसने कहा 'आपने कुछ कहा नहीं?' हमने कहा-वेदान्त से तो एक ही मैनेजमेन्ट हो सकता है कि दुकान बन्द करके चल देगा! ऐसे ही किसी ने एकबार कहा कि महात्मा यदि सरकार हाथ में ले लेवें तो बहुत अच्छा हो जाये। हमने कहा हाँ, लेना चाहिए, बहुत अच्छा है। जितना भी तुम्हारा अर्जित धन है, वह तो हम समष्टियों के भण्डारे में खर्च कर देंगे! और जब खतम हो जायगा तब दण्ड-कमण्डलु लेकर चल देंगे। यही होगा। और क्या होना है? जिन्हें नामरूपात्मक जगत् सत्य लगता है वे सोचते हैं कि यही वास्तविक है। किंतु यह नामरूपात्मक जगत् ज्ञानी को किसी मूल्य का नहीं है! उसकी दृष्टि क्या रहती है? यह आगे विचार होगा। भगवान् शंकर का अर्द्धनारीश्वर रूप बताया। तत्त्वज्ञान के साथ लेशाविद्या वामभाग में रहती है, इस अध्यात्म रहस्य को भी स्पष्ट किया।।२३।।

श्लोक-२४

लेशाविद्या के व्यवहार का स्वरूप भगवान् शंकर की इस लीला से बताते हैं

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर ! पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।
अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद! परमं मंगलमसि।।२४।।

(पदच्छेदः)

श्मशानेषु आक्रीडा स्मरहर! पिशाचाः सहचराः
चिताभस्मालेपः स्रक् अपि नृकरोटी परिकरः।
अमंगल्यम् शीलम् तव भवतु नाम एवम् अखिलम्
तथा अपि स्मर्तॄणाम् वरद! परमम् मंगलम् असि।।

(सान्वयार्थः)

स्मरहर = हे कामनाओं के नाशक! **श्मशानेषु** = श्मशानों में **आक्रीडा** = आनन्द से खेलना, **पिशाचाः** = भूत-प्रेतों की **सहचराः** = दोस्ती, **चिताभस्मालेपः** = शरीर में मुरदे की राख का अंगराग, **नृकरोटी** = मनुष्यों के खोपड़ियों की **स्रक्** = माला, **अपि** = और भी (गजचर्मादि) **परिकरः** = आपकी सम्पत्ति **एवम्** = तथा इस प्रकार का **तव** = आपका **अखिलम्** = सम्पूर्ण **शीलम्** = रहने का ढंग (चरित) **अमंगल्यम्** = अमांगलिक **भवतु नाम** = भले ही प्रतीत हो, **तथा** = फिर **अपि** = भी **वरद!** = हे सारी कामनाओं को पूर्ण करने वाले! **स्मर्तॄणाम्** = (आपका) स्मरण करने वालों को तो आप **परमम्** = निरतिशय **मंगलम्** = मंगलरूप (मोक्षप्रद) **असि** = हैं।

(इससे 'मंगलकामना वालों को शिवस्मरण नहीं करना चाहिये' ऐसा कहने वालों का पराभव हो गया।)

भगवान् शंकर के लिये सम्बोधन किया स्मरहर! कामना का हरण करने वाले, कामना को समाप्त करनेवाले। समग्र दुःखों की जड कामना ही है। इसलिए वार्तिककार कहते हैं

'यतोयतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद् हि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ।।'

सब तरफ से जब कामना हट जाती है, निवृत्त हो जाती है, तब परमाणु जितने दुःख को भी वह कभी अनुभव नहीं करता है। जब तक सर्वथा कामना नहीं हटती तब तक जिस-जिस विषय से कामना हट जाती है, उस-उस विषय से व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

जैसे हम लोगों ने कभी शराब नहीं पी, मांस नहीं खाया। चाहे जितनी शराब के बारे में वार्ता हो कि 'कितनी शराब की फैक्टरियाँ खुल गयीं, स्कॉटलैण्ड जैसी शराब यहीं बनने लग गयी'-इन सबको पढ़कर हमारे मन में कोई भाव नहीं उठ सकता। जिसको शराब की कामना है, वह पता लगाता है, 'कहाँ-कहाँ फैक्टरियाँ बनीं? स्कॉटलैण्ड जैसी कौन-सी बनती है।' यदि वह गाँव में नहीं मिलती तो दुःखी होता है। शहर जाकर खरीदेगा। यह सब इसलिये क्योंकि उसमें शराब के प्रति कामना है। इसी प्रकार पच्चीसों तरह के मांस बनते हैं। अपने मन में कभी किसी मांस का बन्धन नहीं आता है। उल्टा कभी यदि स्मृतिग्रन्थों में मांस के सेवन से होनेवाले पापों का विवेचन आता है, तब व्यर्थ लगता है। खानेवाला होगा तो जरूर देखेगा। इसीप्रकार जिसका मोटर में मन है; कितनी नई मोटरें निकलीं, उनका क्या-क्या नाम है, उनकी क्या-क्या विशेषता है कैसे-कैसे चलती है-यह सब उसके बन्धन का ही कारण होता है। मोटर की कामना नहीं, तो वे सब बातें सुनकर भी व्यर्थ-सी लगती हैं, कोई बन्धन नहीं आता। जिस-जिस चीज से कामना निवृत्ति होती है उस-उस चीज से व्यक्ति छूटा हुआ है।

अतः कामनिवृत्ति ऐसी नहीं है कि जब पूरी होगी तभी फल मिलेगा। यह तो ऐसी है कि जितनी-जितनी कामना निवृत्त होगी, उतना-उतना फल मिलता जायेगा। जैसे पहाड़ पर चढ़ते हैं तो ऐसा नहीं है कि जब ऊपर जायेंगे, तब ठंडक मिलेगी; जितना-जितना ऊपर चढ़ते जायेंगे उतनी-उतनी ही ठंडक मिलती चली जायगी। चूँकि कामना दुःख का बीज है इसलिए भगवान् शंकर अपने भक्तों की कामना का, स्मर का हरण करते हैं, उन्हें कामना से

निवृत्त करते हैं, जिससे वे दुःख का लेश भी न प्राप्त करें। इसके लिए वे स्वयं अपने को कैसा दिखाते हैं?

श्मशान में जाने से लोग घबराते हैं पर शंकरजी श्मशान में ही आनन्दपूर्वक क्रीडा करते हैं, खेलते हैं। जिस श्मशान में जाने से लोग घबराते हैं, यहाँ तक कि श्मशान का नाम सुनकर भी घबराते हैं, उस श्मशान में वे भलीप्रकार से अपना मनोरंजन करते हैं, खेलते हैं। संसार के अन्दर लोग दुःख का अनुभव करते हैं, वहाँ वे सुख का अनुभव करते हैं, आनन्दपूर्वक क्रीडा करते हैं। जिसमें कामना होगी जीवन के प्रति, वह श्मशान में कभी - भी खेल नहीं पायेगा। क्योंकि श्मशान याद दिलाता है कि जो कुछ है वह छूट जाता है। वास्तविक समता को यदि देखना चाहो तो श्मशान में जाओ। बड़े से बड़ा सेठ हो, राजा हो, श्मशान के अन्दर उसी कफ़न में. लिपटकर उन्हीं लकड़ियों में पड़ता है, उसी अग्नि में जलता है। ऐसा नहीं है कि राजा को कुछ कम जलना पड़े! इसी प्रकार अच्छे से अच्छा ब्राह्मण वेदपाठ करनेवाला भी वहाँ जाकर जलता ही है। उसमें और एक साधारण व्यक्ति में कोई भेद नहीं रहता। समग्र कामनाओं की निवृत्ति वहाँ उस समता के कारण स्वतः है। इसलिए भगवान् शंकर श्मशान में विचरते हैं। श्मशान में रहेंगे तो साथी कौन होंगे? पिशाच ही उनके सहचर हैं, साथ में खेलनेवाले हैं। पिशाच के नाम से ही लोग डरते हैं, परन्तु वे पिशाच ही भगवान् शंकर के लिए सहचरका कार्य करते हैं, साथ खेलनेवालों का कार्य करते हैं। कोई भी पिशाच को पास में रखने की कामना नहीं करता है, पिशाच से घबराता है। अतः जिस पिशाच की कोई कामना नहीं करता है उसी पिशाच को उन्होंने सहचर बनाकर रखा है।

ऐसा विचित्र स्वरूप वे क्यों धारण करते हैं? सृष्टि के आदि में पहले ब्रह्माजी के कहने से रुद्र ने सृष्टि करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने जैसे ही तत्त्वज्ञानियों का निर्माण किया। सब तत्त्वनिष्ठा में लगे थे। ब्रह्माजी ने कहा, ''अरे रुद्र! इससे संसार कैसे चलेगा! मुझे तो संसार बनाना है। तुम तो सब ज्ञानी बना रहे हो, इससे कैसे संसार चलेगा?'' भगवान् शंकर ने कहा कि 'दुःखवाली प्रजाओं का निर्माण मैं नहीं करूँगा।' ब्रह्माजी ने कहा कि 'ठीक है, आप मत

करें, मैं कर लूँगा, लेकिन फिर भी सृष्टिचक्र चलना संभव नहीं दीखता! क्योंकि लोगों को जब दुःख होगा तब वे आपके पास आयेंगे क्योंकि आपका परम मंगलमय विग्रह है।' शिव शब्दका अर्थ ही होता है, अत्यन्त सुन्दर। जैसे हिंसा करने वाला सिंह कहा जाता है इसी प्रकार 'वशिकान्तौ'-वश् धातुका अर्थ होता है, अत्यन्त कमनीय, अत्यन्त सुन्दर; उसी का वर्ण-विपर्यय होकर शिव शब्द बना है। इस प्रकार का वर्ण-विपर्यय कई जगह होता है। हिंदी में कई लोग 'लखनऊ' को 'नखलऊ' कहते हैं। जो अत्यन्त कमनीय है, कान्त है, उसी को शिव कहते हैं।

ब्रह्माजी ने कहा 'लोग आपको परम आनन्द में देखकर आकृष्ट होंगे और आप उन को झट से तत्त्वज्ञान का उपदेश दे देंगे। हमने दुःखी लोगों को बनाया भी तो यह चक्र चलेगा कैसे? मुझे तो सृष्टि चलानी है।' भगवान् शंकर ने कहा, 'अरे भाई! तू घबरा मत। मैं ऐसा रूप धारण कर लेता हूँ, जो किसी को कमनीय नहीं लगेगा। और मैं इतनी दूर जाकर बैठूँगा कि कोई जल्दी मेरे पास पहुँच न सके। न तो मेरा रूप आकर्षित करनेवाला होगा, और न लोगों के नजदीक रहूँगा। अतः तुम निःसंकोच सृष्टि करो।' तब भगवान् शंकर ने ऐसा रूप धारण किया। क्योंकि काशी में भगवान् शंकर का वास है इसलिये काशी को महाश्मशान कहते हैं।

भगवान् अपने शरीर पर क्या लगा लेते हैं? 'चिताभस्मालेपः' । शास्त्रों में कहा है कि चिता का धूम भी लग जाय तो गेहूँ-चावल अखाद्य हो जाता है। भगवान् शंकर चिता की भस्म धारण करते हैं अतः लोग उनको अत्यन्त ही अशुद्ध मानते हैं। एक बार दो जनों ने एक महात्मा से कहा 'स्वामीजी, भस्मी हो तो दे दो।' उन्होनें कहा, ''हाँ-हाँ, हमारे पास भस्मी है। अभी दो दिन पहले ही कोई जला था, वहाँ से लाये हैं, बहुत अच्छी है, लीजिए।'' उन्होनें कहा, 'मुरदे की भस्म!' महात्मा ने कहा, 'और क्या!' वे बेचारे घबरा गये। कहने लगे, ''नहीं, नहीं चाहिये।'' चिता भस्म का नाम सुनकर ही लोगों की दूर हटने की इच्छा होती है, किसी को उसकी कामना नहीं होती है।

श्मशान में रहना, पिशाचों का साथ करना और ऐसे चिता भस्म को धारण

करना लोगों को जिसकी इच्छा तो दूर रही जिसें अत्यधिक अपवित्र ही मानते हैं छूते भी नहीं। ऐसा रहने से किसी को यह सन्देह भी नहीं होगा कि अत्यन्त पवित्र हैं, अत्यन्त अपवित्र ही लगेंगे।

ब्रह्माजी ने पूछा 'महाराज आपने भस्म लगाया तो है पर किसे पता चलेगा कि यह चिताभस्म है?' तो भगवान् शंकर ने कहा, "लो और स्पष्ट कर देते हैं", मनुष्यों की खोपड़ियों को उन्होंने माला बनाकर पहन लिया, कहा कि "अब तो किसी को संन्देह नहीं रहेगा? अब तो लोग यही समझेंगे कि हाँ ये बहुत ही अपवित्र हैं।"

यह सब आपका परिकर है, सामान है। इसलिए जो आपका शील है वह बाहर से दीखने में अमांगलिक है। इसमें कोई भी चीज कामनावाले लोगों को मांगलिक नहीं लगती। जब भगवान् शंकर ने ऐसा रूप धारण कर लिया तब ब्रह्माजी को शान्ति हुई कि इनकी तरफ कोई नहीं जायेगा, मेरा संसार चलता रहेगा। कई चतुर्युगियाँ बीत गयी हैं।

परन्तु ऐसा आपका अमांगलिक ढंग देख कर भी जो ज्ञानी हैं, उनको पता है कि आप तो क्या, आपकी याद भी आ जाय तो परम मंगल हो जाता है! कैसे पता लगता है? आपका नाम ही 'शिव' अर्थात् मंगलस्वरूप है। भगवान् शंकर का जो प्रधान मन्त्र है, उसमें भगवान् शंकर के तीन रूप बतलाये-

'नमः शम्भवाय च मयो भवाय च। नमः शंकराय च मयस्कराय च । नमः शिवाय च शिवतरायः च।'

तीनों के अन्दर कल्याण ही निहित है। 'शं' अर्थात् कल्याण। 'शम्भु' स्वयं भी कल्याण स्वरूप हैं और 'शंकर'- कल्याण ही करते हैं। इसीलिए वे शिवरूप हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप से होते हैं अतः शम्भु हैं। सच्चिदानन्द ही कल्याणस्वरूप है।

लोक में भी जिसके पास धन नहीं है, अर्थात् धन उसके पास असत् है, उसे हमने धन से सत् वाला बना दिया तो वह सभी की दृष्टि में कल्याण प्राप्त कर लेता है। जो सत् रूप है वह किसी को भी सत्ता देकर वास्तविक प्रतीत करा

देता है। किसी के पास विद्या असत् है, उसके पास विद्या सत् बना देता है, विद्यावाला बना देता है। सत् हमेशा मंगलस्वरूप है। चित् भी मंगलस्वरूप है। एक कुत्ते का शरीर जब तक चित् से युक्त है, चेतन से युक्त है, तब तक अच्छा माना जाता है, चारों तरफ की रक्षा करेगा। जब वह अचित् हो गया, उसमें चेतन नहीं रहा तब चाहे अपने पिता का शरीर होवे, वह भी अमंगलरूप हो जाता है, जल्दी से जल्दी, मिट्टी ठिकाने लगाते हैं। और आनन्द तो मंगलरूप है ही। भगवान् शंकर सच्चिदानन्दरूप हैं इसलिए शम्भु हैं, कल्याणस्वरूप हैं मंगल-स्वरूप हैं।

केवल मंगलस्वरूप हैं ऐसा नहीं, शंकर भी हैं, कल्याण करते हैं। बहुत से लोगों के पास धन तो बहुत है, अरबपति हैं, परन्तु अपने सगे भाई को भी जरूरत पड़ने पर पाँच हजार भी नहीं दे सकते हैं। दूसरे को उस धन से लाभ पहुँचा नहीं सकते हैं। इसी प्रकार कोई शंका कर सकता है कि 'भगवान् शंकर, शम्भु हैं, बहुत अच्छा है, पर हमारे किस काम के?' अतः कहा, शंकर भी हैं, यदि कोई उनको देख भी लेता है तो उससे ही सारे दुःखों का निवारण वे कर देते हैं। श्रुति कहती है, 'तरति शोकम् आत्मविद्।' परमात्मा के दर्शनमात्र से, उसे जान लेनेमात्र से, दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है। जो दर्शनमात्र से कल्याण कर देता है, वह अन्य प्रकार से भी कल्याण करेगा इसमें कहना ही क्या! उनके कल्याण की सीमा भी नहीं, वे निरन्तर मंगलरूप होते ही जाते हैं, 'शिवतराय च' उनका मंगलरूप हमेशा बेहतर होता जाता है।

इसलिए कहा स्मरण करने वालों के लिए आप परम मंगलमयरूप हैं। आपका नाम भी मंगलदायक है। शिवका नाम लेते ही मंगलका बोध होता है। नाम लेने से ही यह हो जाता है तो स्मरण करने से क्या कहना! बाहर से शिव अमंगलवाले दिखायी देते हैं, अतः लोग समझते हैं कि शिव अमंगलरूप हैं। वे उनके वास्तविक स्वरूप को, मंगलरूप को जानते ही नहीं।

तत्त्वज्ञान के बाद लेशाविद्याकाल में ऐसा ही रूप चेतन का हो जाता है। ये सारे शरीर कैसे हैं? श्मशान हैं। अपने पेट में क्या जल रही है? जठराग्नि,

वैश्वानराग्नि। वह निरन्तर शरीर को जला रही है। चिकित्सक आता है, मुँह में तापमापक डालता है, देखता है कितनी गर्मी है। करीब-करीब साढ़े अट्ठानबे अंश-की गरमी मनुष्य के शरीर में रहती है। यदि बाहर साढ़े अट्ठानबे अंशों की गरमी हो जाये, तो लोग कहते हैं बड़ी गरमी है। जब इतनी अग्नि शरीर में जल रही है तब यह शरीर जल रहा है कि नहीं? जहाँ शरीर जले, वही श्मशान है! चारों ओर जितने लोग हैं वे सभी श्मशान के अन्दर ही हैं, सब जल रहे हैं। ज्ञानी इसको श्मशान कहता है। अज्ञानी तापमापक यन्त्र डालकर मापता भी है। जब कोई मरने लगता है तो कहते हैं कि 'अब ठण्डा पड़ रहा है।' जब मर जाता है तब हाथ लगाकर कहते हैं, 'अब ले जाना चाहिए, ठंडा पड़ गया।' रात-दिन कहते हैं, कहने पर भी इसको श्मशान समझते नहीं हैं। ज्ञानी इसको श्मशान समझता है। समझकर ही 'आक्रीडा' उसके सारे व्यवहार श्मशान में ही हो रहे हैं क्योंकि और कोई जगह है नहीं जहाँ खेला जाये।

इसलिए जितने साथी हैं, वे उस रूप से अनभिज्ञ हैं अत: पिशाच की तरह आचरण करते हैं। आचार्य शंकर एक जगह लिखते हैं कि कहीं भी शास्त्र के अन्दर कामना की प्रशंसा नहीं की गयी है। उसी कामना को लोग गले लगाते हैं। और सारे शास्त्रों में कामना को छोड़ने को कहा गया है जबकि उसकी तरफ ध्यान नहीं देते हैं। यही पिशाच का आचरण है। जितने सहचर हैं; वे सभी श्मशान में रहने वाले पिशाच ही हैं। उन्हें ही सहचर बनाकर खेलता है। सहचर अर्थात् साथ में चरण करनेवाले। साथ में चरण करनेवाले इसलिए हैं क्योंकि वे सारे ही अपने स्वरूप हैं। इसलिए शास्त्र के अन्दर बतलाया कि जो संसार के अन्दर आसक्त होकर पाप करनेवाले हैं वे पहले पापकर्म को छोड़कर शुभकर्मों को करनेवाले बनें। जो शुभ कर्म को करनेवाले हैं, वे कामना का परित्यागकर शान्त बनें। जो शान्ति गुणवाले हो गये हैं वे परमात्मा को प्राप्त करें। और जिन्होंने परमात्मज्ञान प्राप्त कर लिया वे दूसरे को परमात्मा के मार्ग में लगावें, उनको ज्ञानप्राप्ति में सहायता दें। चूँकि वे हमारे ही स्वरूप हैं इसलिए उनको हमारे ही जैसा स्वरूप प्राप्त करने के लिए, ज्ञान के मार्ग में लगाने के लिए ही शरीर में रहने का उसका खेल है।

वह अपने शरीर पर क्या लगाता है? यह सारा विश्व नामरूपात्मक है। इस नामरूप को जला देने पर जो नामरूप का भस्म है, बाधितानुवृत्ति है उससे ज्ञानी सजता है जब तक भस्मी उड़ती नहीं तब तक जलने वाला पदार्थ जिस शक्ल का होता है, उसी रूप में भस्म दीखती है। रस्सी को जला दो, वहाँ हवा नहीं है तो रस्सी जैसी ऐंठनवाली सफेद रस्सी दीखेगी। रस्सी तो है नहीं। इसी प्रकार टाट को जला दो तो जब तक हवा नहीं चलेगी, तब तक टाट के जैसी ही बिछी हुई राख दीखेगी। इसी प्रकार नामरूपात्मक संसार जब तत्त्वज्ञान से जल गया, जब तक लेशाविद्या की निवृत्ति की हवा नहीं लगेगी, तब तक प्रतीत ऐसा ही होता रहेगा, जल भले ही चुका है। नामरूप का बाध करके उस नामरूप की चिता का जो भस्म है उसे अपने शरीर पर धारण करता है। जब मोक्ष का स्वरूप बताते हैं तब यही कहते हैं, 'इन सबके अभाव से उपलक्षित आत्मा।' वस्तुतः तो उसमें अभाव नहीं है, पर जब उसको समझाया जायेगा तब अभाव से उपलक्षित करके ही बताना पड़ेगा। नामरूप जलकर जो भस्म है, उस चिता भस्म का ही आलेप करता है। अर्थात् जले हुए नामरूप से उपलक्षित ही चेतन का स्वरूप होता है।

माला किसकी पहनते हैं? 'नृकरोटी'। नृ अर्थात् नर। मनुष्य की विशेषता क्या है? मनुष्य योनि ही ऐसी है, जो शुभ और अशुभ का विवेक कर सकती है। क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य है, क्या ज्ञातव्य है, क्या अज्ञातव्य है इसका विवेक करना ही मनुष्य की विशेषता है। जो इस विवेक से हीन लोगों को बनानी चाहते हैं वे कहते हैं कि मनुष्य की पशु से कोई विशेषता नहीं है। ऐसे ही विचारक कहते हैं कि 'तुम कुत्ते-बिल्ली जैसे प्राकृतिक क्यों नहीं हो सकते?' बिल्ली को कोई मानसिक तनाव नहीं होता। 'यह मैंने बुरा किया, पाप किया' ऐसा उसको कोई सन्ताप नहीं होता है। 'आप लोगों ने मनुष्यों के अन्दर ये गलत संस्कार डालकर लोगों को दुःखी बना दिया है। यदि धर्म, औचित्य आदि के संस्कारों से रहित हो जाए, तो मनुष्य सुखी हो जाए, इन सब तनावों से रहित हो जाए।' लेकिन नर की विशेषता ही है इस प्रकार का विवेक।

करोटी जिस के अन्दर रखकर खाया जाता है। विवेकरूप जो करोटी है, वह नृकरोटी है। उसके अन्दर परमात्मतत्त्व का भोजन किया जा सकता है। जो

विवेकी नहीं है, उसे तो लाख परमात्मविषय के बारे में बताओ, कभी नहीं समझ सकता। तत्त्वज्ञान की दशा में इस तरह से चारों तरफ श्मशान देखकर ही उसमें आक्रीड़ा करता है। सबको पिशाचरूप जानते हुए भी उनको सहचर समझता है। लोग दो-मुँहे ही नहीं सहस्र-मुँहे होते हैं! चार आदमियों से चार तरह की बातें करेंगे। पता है सब पिशाच हैं, पर सहचर तो इन्हीं को बनाना है! आत्मज्ञान इन्हीं को कराना है। तत्त्वज्ञानी को तो ज्ञान कराना है नहीं।

वे तत्त्ववेत्ता ऐसा क्यों आचरण करते हैं? स्मरहर। ऐसे आचरण का मूल कारण है कि उनको अपनी कोई कामना है नहीं जिनको उन्हें पूर्ण करना है। वे तो दूसरों के द्वारा की हुई कामना को कैसे हरा जाय, दूर किया जाय इसकी कोशिश में हैं। उन्हें अपने अन्दर कामना होवे यह तो सम्भव ही नहीं है। वे जब वैराग्यादिका उपदेश देते हैं तब लोग समझते हैं कि अत्यन्त अमांगलिक है। अब तो जरा समय बदल गया, पहले कलकत्ते में हम लोग भोजन करने जाते थे; वहाँ चार-पाँच मंजिलों का मकान होता है। कोई अपना भक्त चौथी मंजिल पर रहता था। वहाँ गये, भोजन किया। जब भोजन करके नीचे आ गये तब नीचे वाले सोचते थे कि सीढ़ी तो महान् अपवित्र हो गयी, संन्यासी का पैर पड़ गया। हम लोगों के उतरने के बाद गंगाजल लाकर सीढ़ी को धोते थे। क्यों? संन्यासी वैराग्यादि की बात करता है, वह उनको बड़ी अमांगलिक लगती है।

परन्तु वस्तुतः उन लोगों के लिए वह कैसा है? 'वरद' है। बिना इच्छा के भी उन्होंने तत्त्वज्ञानी का दर्शन किया तो उनका कल्याण होता ही है। इसलिए ऐसा जो तत्त्वज्ञान के अनुष्ठान में रहनेवाला है वह परम मंगलमय ही होता है। भगवान् शंकर की अध्यात्मलीला हमारे शरीर के अन्दर भी ज्ञानी के रूप में होती है। अविद्यालेश उनका वामार्ध हो जाता है। और यह सारा अमांगलिक रूप वस्तुतः मंगल स्वरूप हो जाता है।

भगवान् का बाह्य रूप अमांगलिक दिखायी देता है परन्तु वे स्वयं शिव हैं अतः उन के स्मरण से परम मंगल होता है। स्मरण करने का सीधा अर्थ तो है याद करना। परन्तु उपनिषदों के अन्दर स्मरण या स्मृतिका विशिष्ट अर्थ भी है। स्मरण तब बनता है जब उस चीज का अनुभव किया हो यह नियम है। जिस

चीज का पहले अनुभव हो, उसकी याद आ सकती है। शिव का पहले अनुभव तो हुआ नहीं। यदि सच्चिदानन्द शिवका, प्रपंचोपशम शान्त अद्वितीय का अनुभव पहले हो गया होता तो संसारबन्धन ही उसी समय समाप्त हो गया होता! ज्ञानसमकाल ही मुक्ति है। यह नहीं कह सकते कि प्रकाश आने के बाद अन्धकार जायेगा; प्रकाशका आना और अंधकारका जाना एक साथ ही है। 'इस कमरे में रोशनी हो गयी' या 'इस कमरे से अन्धेरा चला गया' कहो, एक ही बात है। इसी प्रकार अज्ञान ही बन्धन है। ज्ञान ही मोक्ष है। न और कोई बन्धन है, न और कोई मोक्ष है।

यद्यपि अन्धकार जाना और प्रकाश आना एक ही है तथापि दोनों भाव वस्तुएँ अलग-अलग हैं। अन्धकार प्रकाश का अभाव नहीं है। अन्धकार एक भाव पदार्थ है। प्रकाश आनेपर अंधकार नष्ट होता है किंतु अभावमात्र नहीं है। अज्ञान बन्धन है। भाव पदार्थ होने से इसका भी हमको 'है' रूप से अनुभव होता है। अभाव पदार्थ का हमेशा अनुभव होता है 'नहीं है' रूप से। यहाँ घड़ेका अभाव है, इसके अनुभव का रूप क्या है? यहाँ घड़ा नहीं है। कपड़े का अभाव है, अर्थात् कपड़ा नहीं है। बन्धन का अनुभव हमेशा किस रूप में होता है? बन्धन है। मैं बँधा हुआ हूँ। इसी प्रकार मोक्ष का अनुभव भी भावरूप अनुभव है, अभावरूप नहीं है। अभाव से उपलक्षित होने पर भी स्वयं अभावरूप नहीं है। बन्धन और मोक्ष दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, एक के आनेपर दूसरा नष्ट होता है।

शिव का अज्ञान ही बन्धन है। और शिवका ज्ञान ही मोक्ष है। यदि शिव का ज्ञान हो गया तो मोक्ष है। फिर उसका स्मरण क्या करोगे जब अज्ञान ही नष्ट हो गया? इस प्रकार दो विरोध आते हैं- पहला विरोध तो यह है कि अनुभवपूर्वक स्मृति होती है। शिव का हमें अनुभव हुआ नहीं अतः उसकी स्मृति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि उसका अनुभव होने के बाद स्मृति का कोई स्थान ही नहीं रहता। क्यों नहीं रहता? ज्ञान का प्रकार ही है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि'; उसका अनुभवप्रकार ही स्मर्ता और स्मर्तव्य के अन्तर को मिटाने वाला है। दो चीजों का हमें अब तक अनुभव है - एक अनुभव

करनेवाला दृक् पदार्थ और दूसरा जिसका अनुभव कर रहे हैं वह दृश्य पदार्थ। ज्ञान से पता लगता है कि दृक्–दृश्य दोनों ही एकमात्र उस परम शिव के अन्दर, उस अधिष्ठान के अन्दर अज्ञान के कारण कल्पित रूप से होते चले गये थे। सब चीजें अनुभवस्वरूप हैं और मैं जो अनुभव करनेवाला वह भी शिवस्वरूप हूँ। अज्ञान के कारण ही इनकी भेदप्रतीति थी। जो कुछ अनुभव हो रहा है वह शिवस्वरूप से ही अनुभव हो रहा है, वह शिवस्वरूप ही अनुभव हो रहा है तब. स्मृति क्या होगी! सामने पति बैठा हुआ है, उससे बात कर रहे हैं तो क्या कहोगे कि 'हमको आपकी याद आ रही है'? सामने जो चीज न होवे उसी की स्मृति होगी। अतः शिव की स्मृति कैसे होगी? इसलिए उसको अनेक जगह 'सकृत् विभात' कहते हैं कि एक बार ही उसका भान होता है। इन दो कारणों से उसकी स्मृति बनती नहीं फिर भी स्मृति का विधान किया है। अतः स्मृति एक पारिभाषिक शब्द है।

इसी स्मृतिका अपभ्रंश परवर्ती कालमें सन्तों की परम्परा में हिन्दी कविताओं में 'स्मरत' शब्द है। स्मृति का 'स्मरति', उसीका अपभ्रंश है 'स्मरत'। स्मृति क्या है? याद का प्रकार नहीं है। फिर उसको याद क्यों कहते हैं? 'जिसको अब तक साँप समझा था, वह रस्सी है'– यह साँप और रस्सी की बाध–समानाधिकरणता है अर्थात् 'साँप ही रस्सी है' का मतलब साँप रस्सी नहीं है। इसमें अनुभव और स्मृति दोनों का साथ है। इसलिए उसको आचार्य शंकर दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञाका अर्थ है जहाँ ज्ञान भी हो रहा है और स्मृति भी हो रही है। 'रस्सी है' यह ज्ञान हो रहा है, 'यही रस्सी कभी साँप थी' यह स्मृति भी हो रही है। इस को बताते हुए सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् के अन्दर कहा– 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।' स्मृति की यदि प्राप्ति हो गई तो जितनी गाँठे हैं वे खुल जाती हैं। 'जितनी गाँठे हैं' का क्या मतलब है? किसी चुम्बक पत्थर को ले लो, उसके ऊपर एक कील लटका दो, लटक जायगी। उसके नीचे एक के बाद एक ऑलपिनें लटका दो तो वे भी लटक जायेंगी। यदि केवल ऑलपिन को खींचकर दूर करो, तो वही हटेगी। परन्तु चुम्बक से लटकी हुई कील को यदि दूर करो तो बाकी सब अपने आप

झड़ जायेंगी। फिर एक-एक को अलग नहीं करना पड़ेगा। नीचे से अलग करोगे तो एक-एक को अलग करना पड़ेगा, पर ऊपर से हटाओगे तो सब अलग हो जायेंगी। वहाँ कह सकते हैं कि चुम्बक और कील की ग्रन्थि है। कील की नीचे की आलपिन से ग्रन्थि है, उसकी अगली ऑलपिन से ग्रन्थि है। ये सब गाँठे हैं। पर ऊपर की कील यदि निकल गयी तो सब झड़ जायेंगी।

इसी तरह यहाँ कहा- 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।' हैं तो कई ग्रन्थियाँ। आत्मा अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति से गाँठ बाँधे हुए है, इसी को चिज्जडग्रन्थि कहते हैं। आगे चेतन के प्रकाश से प्रकाशित हुआ अहंकार; उसके आगे मनसे गाँठ बाँध रखी है, प्राण से गाँठ बाँध रखी है, शरीर से बाँध रखी है। पत्नी पुत्र से भी बाँध रखी है। अन्य जड चीजों से भी बाँध लेते हैं। मेरा मकान है, उससे भी बाँध लेते हैं। मकान सरकार ने ले लिया तो तुम्हारा मकान गया! एक गाँठ तो गयी। सरकार ने मकान ले लिया, तो एक बार रो लोगे, बार-बार नहीं रोना पड़ेगा। जब तक अपना मकान था तब तक रोज-रोज रोना पड़ता था-इसमें सफाई करानी है। अब इसमें धुलाई-पुताई करानी है। हमेशा समस्या रहती थी। अब सरकार ने ले लिया, तुम्हारा रोज-रोजका रोना-धोना तो मिट गया। पाकिस्तान से लोग सारी सम्पत्ति छोड़ कर आये, साल-छः महीना रोते रहे। साथ में बनाते भी रहे। अब उसको नहीं रो रहे हैं कि उसका क्या हो रहा है। एक चीज हटी।

इसी प्रकार मर गये तो शरीर के जितने सम्बन्धी थे, हट गये। परन्तु उसी का सम्बन्ध हटा। मन प्राण इन्द्रियाँ तो साथ गयीं। जो तुमने यहाँ भोगा, उन सब संस्कारों को अपने साथ बाँधकर ले गये। जहाँ भी पैदा होगे इन्हीं संस्कारों की पिटारी खोलोगे और अपना व्यापार शुरू कर दोगे। वर्तमान काल में बहुत से लोग कहतें हैं कि मनुष्य का स्वभाव वंश परम्परा और वातावरण से बनता है। सामाजिक परिस्थितियाँ और वंशानुगतता इन से व्यक्तित्व बनता है ऐसा मानते हैं। लोग सोचते हैं कि मनुष्य का स्वभाव या वंश परम्परा से आया या वातावरण से आया। प्रश्न होता है कि एक ही माता-पिता की दो सन्तान हैं; आर्थिक परिस्थितियाँ भी माता-पिता की वैसी ही हैं, वातावरण भी चारों तरफ का एक

जैसा है। फिर भी उनमें एक धार्मिक प्रवृत्तिका और दूसरा अत्यन्त अधार्मिक प्रवृत्ति का बन जाता है। न वहाँ वंश परम्परा बदली, न वातावरण बदला पर दोनों का स्वभाव भिन्न होता है। थाईलैण्ड एक देश है, बर्मा के नीचे। वहाँ एक ऐसा बच्चा पैदा हुआ जिसका आधा शरीर, एक ही था, मुँह दो थे। कमर से दोनों मिले हुए थे। पीठ भी मिली हुई थी। उनमें हृदय आदिका रक्तस्राव एक जैसा, अतः अलग उनको किया नहीं जा सकता। विज्ञान की दृष्टि से उसका हेतु बतलाया जाता है कि दो शुक्राणु मिलकर बच्चे बन गये। उनका वातावरण तो एक सैकेण्ड को अलग होना नहीं है। पैदा भी एक साथ हुए। दानों के वातावरण में भी कोई फर्क नहीं है। सब कुछ एक है। इतना होनेपर भी दोनों के स्वभाव में बड़ा फर्क था। अतः बलात् मानना पड़ता है कि दोनों अपने पूर्व जन्म के संस्कारों को खोल रहे हैं और उनके अनुसार काम कर रहे हैं। शरीर छोड़कर जाओगे, तो भी सूक्ष्म शरीर साथ जानेवाला है।

जिस समय ज्ञान होता है तब पहली अहंकार की चिज्जड ग्रन्थि खुल जाती है। मुख्य 'कील' हट जाती है तो जैसे ही अहंकार के अन्दर चेतन की पड़ी हुई गाँठ दूर हुई बाकी सब लटकी हुई चीजें झड़ जाती हैं उनको अलग से झाड़ने का काम नहीं रहता। इसलिए प्रत्यभिज्ञा रूप से कहा कि स्मृति की प्राप्ति होने पर बाकी सारी गाँठें खुल जाती हैं। अहंपद के अन्दर जो सच्चिदानन्द शिवस्वरूपता है, उसकी प्रतीति को ही स्मरण कहा गया है। परम मंगल मोक्ष स्मरण करनेवालों को मिलता है। स्मरण कैसे किया जाता है-यह आगे विचार करेंगे।

श्लोक-२५

साधना का क्रम बताते हैं कि स्मर्ता कैसे बनें।

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्संगितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्।।२५।।

(पदच्छेदः)

मनः प्रत्यक् चित्ते सविधम् अवधाय आत्तमरुतः
प्रहृष्यद् रोमाणः प्रमदसलिलोत्संगितदृशः।
यत् आलोक्य आह्लादम् ह्रदे इव निमज्य अमृतमये
दधति अन्तः तत्त्वम् किम् अपि यमिनः तत् किल भवान्।।

(सान्वयार्थः)

यमिनः = शमादिसाधनसम्पन्न परमहंस संन्यासी **चित्ते** = हृदय के दहराकाश में **प्रत्यक्** = (बहिर्विषयों से हटे हुए) अन्तर्मुख **मनः** = मन को **अवधाय** = वृत्तिरहित करके **सविधम्** = श्रुति-स्मृति में बताई हुई रीति से **आत्तमरुतः** = प्राणों का अवरोध करके **प्रहृष्यद्** = प्रसन्नता से **रोमाणः** = रोमाञ्चित (और) **प्रमदसलिलोत्संगितदृशः** = आनन्द से जलपूर्ण नेत्रों से युक्त होकर **यत्** = जिस **किम्** = किसी एक अनिर्वचनीय **अपि** = ही **तत्त्वम्** = सच्चिदानन्द तत्त्व का **आलोक्य** = वेदान्त वाक्यों द्वारा अखण्डाकार वृत्ति से साक्षात्कार करके **अमृतमये** = अमृत से भरे **ह्रदे** = तालाब में **निमज्य** = मग्न हुए के **इव** = समान **अन्तः** = अन्दर ही अन्दर (बाह्य सुख से विलक्षण) **आह्लादम्** = निरतिशय सुख को **दधति** = धारण करते हैं **तत्** = वह (निरतिशय सुख) **किल** = श्रुतियों में प्रसिद्ध है कि **भवान्** = आप ही हैं।

(इस श्लोक में जीव के रूप का निरूपण और स्वरूप–साक्षात्कार की साधना को बताया।)

भगवान् शंकर का स्मरण करने के लिए मुख्य अधिकारी यमी - यमका पालन करनेवाला। यम कहीं दस कहे गये हैं कहीं पाँच। इनका पूर्णरूपेण पालन सर्वकर्मसंन्यासी ही कर सकता है। सर्वप्रथम यम है अहिंसा, मन वाणी और शरीर से कभी किसी प्राणी को पीडा न होवे। जिसे कर्मका व्यवहार करना है, उससे पीडा न होवे, यह सम्भव नहीं है।

इसलिए सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में गृहस्थ के लिये कहा कि शास्त्र ने जिन स्थलों पर आज्ञा दी है उन स्थलों को छोड़कर बाकी जगह हिंसा न करे। जैसे गृहस्थाश्रम के अन्दर भोजन बनाओगे; भोजन बनाने के स्थल में

हिंसा हो जाती है। चाहे जितनी सावधानी से साग बनाओ, परन्तु गोभी आदि के बीच में अथवा अन्य किसी में हिंसा हो ही जाती है। गेहूँ को पीसोगे तो किसी न किसी गेहूँ में इल्ली रह ही जायेगी। सफाई करते समय मकड़ी का जाला साफ करोगे तो उसके अन्दर मकड़ी आदि का घर बरबाद करोगे ही। यदि मकड़ी उसके अन्दर होगी तो खत्म हो ही जायेगी। झाड़ू लगाते वक्त भी अत्यन्त छोटे प्राणियों की हिंसा हो जायगी। इन स्थलों के अन्दर शास्त्र ने अनुज्ञा दी है कि भोजनादि के बनाने में, साफ-सफाई में, जिन प्राणियों का नाश हो जाता है वह प्रायश्चित्त से मिट सकता है। अतः गृहस्थी करने में किसी प्रकार के दोष की प्राप्ति नहीं होगी परन्तु अहिंसा का सीमन तो करना ही पड़ा।

इसी प्रकार गृहस्थाश्रम के अन्दर पता है कि अमुक लड़की के अन्दर यह दोष है, आँख से टेढ़ा देखती है। कोई पूछता है कि लड़की कैसी है? गृहस्थ यह नहीं कह सकता 'मेरी लड़की भैंगी है।' यह सत्य का संकोच है। कई स्थल ऐसे बतलाये हैं जहाँ झूठ बोल दिया जाता है। जैसे लड़की का विवाह हो रहा है या किसी निरपराध को भयानक दण्ड मिल रहा है, फाँसी भी हो सकती है। ऐसे स्थलों के अन्दर गृहस्थ को शास्त्र ने अनुज्ञा दे दी कि वहाँ पर वह सत्य नहीं भी बोलता है तो उसे कोई पाप नहीं लगता है। परन्तु परिच्छिन्नता तो हो गई, सीमित तो हो गया।

इसी प्रकार बाकी जितने यम हैं वे सर्वकर्मफलत्यागी के लिए करना ही सम्भव हैं दूसरे उसको एक निश्चित सीमा में ही कर पाते हैं और करना भी चाहिए। परन्तु यह छूट सर्वत्र के लिये नहीं है कि कहो 'महाराज! हम लोग तो गृहस्थ हैं अतः घूस ले ली, उसके बिना काम नहीं चलता!' यह शास्त्रीय छूट नहीं है। शास्त्र के अन्दर जो छूट दी है उतनी ही छूट है। यति के लिए तो बिना छूट के सर्वांश में यमों का पालन करना ठीक है, पर बाकी लोगों के लिए परिच्छिन्न रूपसे ही करना संभव है। जो यमों का अनुष्ठान नहीं करेगा वह परमेश्वर का स्मर्ता नहीं बन सकता। अपने-अपने आश्रम के हिसाब से यमका अभ्यास करने वाला ही स्मरण करने का अधिकारी है।

वही क्या कर सकता है? 'प्रत्यक्चित्ते'। हम लोग अभी कैसे हैं? पराक्चित्त वाले। ब्रह्माजी ने जब सृष्टि प्रारम्भ की तब उन्होंने सोचा कि सारे कर्मों को किया तो तभी जा सकता है जब करनेवाला जीव ज्ञानी होवे। ज्ञान होगा तभी वह करेगा और जब करेगा तभी वह पूर्ण फल का भागी बनेगा। कोई पत्थर लुढ़क गया, नीचे कोई गाय खड़ी है, उसे लग गया तो उस पत्थर को शिक्षा नहीं दी जायेगी क्योंकि वह जड़ है। जहाँ ज्ञान होगा वहीं कर्तापन आयेगा। कर्तापन आनेपर ही उसका कर्म बनेगा और उस कर्मसे ही सृष्टि चल सकती है।

सृष्टि को चालनेवाली चीज कर्म ही है। इसलिए गीता में भगवान् ने कहा कि "यदि कर्म की परम्परा जाती है, यदि मैं सब समय कर्म की परम्परा को चलाने में प्रवृत्त रहता नहीं हूँ, तो प्रजाओं को नष्ट करनेवाला मैं हो जाऊँगा।" ठीक जिस प्रकार आजकल के जमाने में घड़ी में सेल पड़ा होता है वही उस घड़ी को चलाता है। पुराने जमाने में चाभी भरनी पड़ती थी। प्रतिदिन या प्रतिसप्ताह भरो. चाबी भरोगे तभी घड़ी चलेगी। जिस प्रकार चाभी भरने से घड़ी चलती है अथवा सेल की ऊर्जा से चलती है, वैसे ही सृष्टिचक्र को चलानेवाला जीवका कर्म है। कर्म से जो उसको फल मिलना है, उस फल से पदार्थों की सृष्टि होती है। कर्मफल के भोग के लिए पदार्थों का निर्माण होता है। पदार्थ कोई व्यर्थ नहीं बनाये जाते हैं। अतः जहाँ भी कोई पदार्थ हैं, वे किसी न किसी भोग के लिए हैं।

हम लोगों की समझ में कई बार नहीं आता क्योंकि हम लोग मनुष्य को केन्द्र बनाकर सोचने के आदी हैं। बाढ़ आयी, बहुत नुकसान हुआ। यह तो सब कहेंगे। पर बाढ़ आने से कितने मेढ़क, मछलियाँ और बाढ़ घटने पर कितने मक्खी-मच्छरों का लाभ हुआ, इसकी कोई चर्चा नहीं करता है! मनुष्य को ही हम केन्द्र मान लेते हैं तो हमें लगता है कि बाढ़ आयी, तूफान आया तो नुकसान ही हुआ। किंतु अनेक जीवों का लाभ भी तो होता है। किसी की हानि होती है तो किसी का लाभ भी होता है। हर हालत में जब कुछ लोगों को पाप के प्रारब्ध का फल भोगना है तो कोई चीज बढ़ी, जैसे पानी बढ़ा। पानी बढ़ा क्योंकि लोगों को पानी आवश्यक था, उनके कर्म वैसे थे। अतः सृष्टिचक्र को

चलानेवाली जो चाभी या सेल है, वह है कर्म। कर्मका फल मिलने के लिए ही पदार्थों की सृष्टि होती है।

अत: ब्रह्माजी ने निर्णय किया कि जीव के अन्दर ज्ञान का केन्द्र होना पड़ेगा। यदि ज्ञान का केन्द्र जीव में है और जीव को पता लग जाय कि 'ज्ञानस्वरूप मै हूँ' तो मुक्त हो जायेगा! ब्रह्माजी की कठिनाई यह है कि बिना ज्ञान के सृष्टि चल नहीं सकती और ज्ञान हो जाये तो भी सृष्टि चल नहीं सकती। ब्रह्माजी ने सोचा कि इसका रास्ता क्या निकाला जाय। उन्होंने जीव के अहं के अन्दर ज्ञान को रख दिया। पर उस अहं के द्वारा जो ज्ञान का प्रकाश है वह बाहर ही जा रहा है, बाहर की तरफ ही अहं की दृष्टि रहेगी। जहाँ से जा रहा है वह बिल्कुल अपने पास है; अपने अन्दर से ही जा रहा है, पर उसकी उधर दृष्टि नहीं बनेगी। बाहर की सृष्टि का अत्यंत सुन्दर उन्होंने निर्माण किया और मन सहित सारी इन्द्रियों को उस सृष्टि को देखने के लिए प्रवृत्त कर दिया। ज्ञान-स्वरूप अपने इतना पास है कि उसकी तरफ नजर नहीं जायेगी। एक क्षण ऐसा नहीं है जब हम नहीं जानते कि 'मैं ज्ञानवाला हूँ'। 'मैं ज्ञानवाला नहीं हूँ' ऐसा हम एक क्षण भी नहीं जानते हैं।

बहुत साल पहले सन् ४२ में आन्दोलन हुआ, कांग्रेस का -'करो या मरो।' यह गान्धीजी का सन्देश था। देश के अन्दर उस आंदोलन की खबरें भेजना असम्भव था पर खबर पहुँचाये बिना आन्दोलन चल भी नहीं सकता था! चुपचाप कुछ छोटे-छोटे समाचार-पत्र छपते थे, आधा पेज-एक पेज के। सरकार से छिपकर उनका वितरण होता था। कहीं न कहीं सरकारी कर्मचारियों के हाथ में भी वह पेपर लगता था। वे ढूँढते थे कि कौन आदमी छापता है, वहाँ छापा मारते थे। कभी पकड़े भी जाते थे। एक जगह वैसा ही पत्र छप रहा था। सारे छापनेवाला सामान तैयार था, मैटर कम्पोज हो गया था, उसका प्रूफ भी निकल गया था। उसी समय वहाँ छापा पड़ा। चौकीदार ने आकर कहा। सब घबरा गये कि सारा तैयार माल पकड़ा जायेगा। जो वहाँ का प्रधान, मैनेजर था उसने कहा 'बिल्कुल मत घबराओ कुछ मत करो।' उसने प्रूफ को तिहरा मोड़कर अपने टेबलपर रख दिया। सब ने कहा 'अरे! वे तो आ रहे हैं!' उसने कहा 'चुप रहो, कुछ मत बोलना।' जहाँ वह कागज था, वहीं पर कुछ अन्य कागज भी रख दिये। तब तक छापा

डालने वाले लोग आ गये। उनलोगों ने सभी जगह देखा। दराज देखा, अल्मारी देखी, पर कुछ मिला नहीं। वे चले गये। लोगों ने मैनेजर से कहा कि 'आपने बड़ी हिम्मत की।' उन्होंने कहा 'हिम्मत की बात कुछ नहीं है। छिपाने लायक चीज कोई खुली नहीं छोड़ता, अतः वैसी चीज ढूँढने वाले का ध्यान खुली चीजों पर जाता ही नहीं। जहाँ चीज छिपाकर रखी जाती है वहीं आदमी ढूँढने भी जायेगा।'

ठीक इसी प्रकार लोग समझते हैं कि परमात्मा को कहीं छिपाकर रखा होगा, ब्रह्मलोक में रखा होगा, किसी अन्य लोक में रखा होगा; हम प्रयत्न करके जायेंगे, हमें परमात्मा मिलेगा तब हम मुक्त होंगे, ढूँढते-ढूँढते कहीं तो पा ही लेंगे! किंतु ब्रह्माजी ने ज्ञान स्वरूप को हमारे हृदय में ही रख दिया। जानते थे कि यह ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, गोलोक, सब जगह ढूँढेगा, पर अपने अन्दर नहीं ढूँढेगा! अतः लोग बद्रीनारायण से रामेश्वरम् तक जायेंगे, पर अपने अन्दर नहीं ढूँढेंगे। ब्रह्माजी ने हृदय के अन्दर ही ज्ञानस्वरूप को रख दिया है। उसी के प्रकाश से सारा संसार प्रकाशित हो रहा है। उस ज्ञान के प्रकाश के बिना कहीं कोई प्रकाश है ही नहीं। उन प्रकाशित पदार्थों को सब देख रहे हैं, परन्तु प्रकाश की तरफ दृष्टि नहीं जाती।

दिल्ली के उत्सव में कई बार महाराज जी कहते थे, "अरे! भगवान् को देखोगे?" "हाँ, महाराज देखेंगे।" अपना हाथ दीखाते थे। "देखो, क्या दीखता है?" "हाथ दीखता है।" "और क्या दीखता है?" "अंगुलियाँ दीखती हैं।" "और क्या दीखता है?" पास बैठनेवाले कहते थे "रेखाएँ दीखती हैं?" 'और क्या दीखता है?' 'और तो कुछ दीखता नहीं है।' 'अरे! प्रकाश नहीं दीखता, जिससे सब दीख रहा है?' सारी प्रकाशित चीजों को हम देख रहे हैं, पर जिस तरफ से प्रकाश आ रहा है, वहाँ दृष्टि जा नहीं रही है। यह हुआ 'पराक्' बाहर की चीजों का प्रकाश।

यदि बाहर जाना छोड़ दें तब 'प्रत्यक्' हो जायेगा। बाहर जाना छोड़ दें और खोजें 'मैं' क्या है? 'मैं' के अन्दर कौन-सी चीज है जो सब संसार को प्रकाशित कर रही है? उसे ढूँढें तो झटसे मिल जाता है।

इसके लिए पहले क्या करना पड़ता है? 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।' वैष्णवाचार्य कहते हैं आहार अर्थात् खाने की शुद्धि। आचार्य शंकर कहते हैं अरे भई! खाना मतलब भोजन ही नहीं होता है। आँख रूप का खाना खाती है। कान शब्द का आहार खाता है। ये सब आहार हैं। कई बार लोग पूछते भी हैं। 'महाराज! बहुत से लोग खाने-पीने में बिल्कुल शुद्ध रहते हैं। फिर उनके अन्दर इतने दुर्भाव कैसे रहते हैं। सत्त्वगुणी भोजन किया तो सत्तवगुणी होना चाहिए ?' भोजन सत्त्वगुणी है परन्तु आहार सत्त्वगुणी नहीं है क्योंकि अन्य इन्द्रियों के द्वारा और मनके द्वारा वे क्या-क्या ग्रहण कर रहे हैं कोई ठिकाना नहीं!

इन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण आहार है। बिना इन्द्रियों के मनसे भी ग्रहण होता है। घरों के अन्दर लगा हुआ है टेलीविजन, उसमें महाभ्रष्ट चित्र और महाभ्रष्ट गांने आयेंगे। लोग बैठकर देखते हैं। सारे विकार मन के अन्दर जायेंगे। समाजवैज्ञानिक भी कहते हैं कि इतना ज्यादा अपराध बढ़ रहा है, उसका बहुत बड़ा कारण सिनेमा और टेलीविजन है। अन्य लोग पर्यावरण के बारे में कहते हैं कि पर्यावरण में प्रदूषण नहीं होना चाहिए। तम्बाकू बन्द करो, उससे नुकसान हो रहा है। अरे! उससे जयादा नुकसान तो तुम्हारे इस टेलीविजन से हो रहा है, इसको बन्द करने की कोई बात नहीं करता। इसका प्रदूषण बड़ा भयंकर प्रदूषण है। बाकी प्रदूषण तो फेफड़ों को खराब करेंगे, ज्यादा से ज्यादा यह शरीर मर जायगा। इससे ज्यादा तो तम्बाकू नुकसान नहीं करेगी? किन्तु टेलीविजन का प्रदूषण पता नहीं तुमको कितने जन्मों तक नरक का भोग करायेगा! उसका कोई विचार नहीं करता है।

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' यह वेदवाक्य बिल्कुल सत्य वचन है। आचार्य शंकर ने इसीलिए स्पष्ट किया कि जितने विषय हैं वे सभी आहार ही हैं। जब मन और इन्द्रियों को विषयों की तरफ जाने से रोकोगे, वे जब बाहर नहीं जायेंगे, तभी अन्दर की तरफ आने की सम्भावना होगी। विषयप्रवण चित्तसे यदि तुम आशा करो कि वह प्रत्यक्-परायण हो जाय तो यह हो नहीं सकता। इसलिए कहा -'प्रत्यक्चित्ते'। जब बाह्य वृत्तियों को हटाकर अपना जो प्रत्यगात्मा है,

उसके अन्दर मन को एकाग्र करोगे, तभी जो तुम्हारा बुद्धितत्त्व है, वह शुद्ध होगा। विषयों के संस्कार से ही मन में अशुद्धि है। मन में कोई स्वाभाविक खराबी नहीं है। मन तो महाभूतों के सत्त्वगुण से बना है। सत्त्वगुण से बने मन में खराबी कहाँ होगी? खराबी तो उसके अन्दर तमोगुण के विषयों के संस्कार के द्वारा है। क्योंकि जिन विषयों की तरफ जा रहा है वे महाभूतों के तमोगुण के द्वारा बने हैं। अतः विषयों की सन्निधि से ही, विषयों के पास आने से ही मन में खराबी आती है।

प्रायः आदमी कह देता है, 'विषय पड़े हैं, पर मेरा मन उधर नहीं है।' किन्तु यह कब होता है? एक महात्मा थे, नर्मदा के किनारे बड़ी मण्डली लेकर निकले, छः सौ आदमी थे। कई लोग आते थे, चढ़ाकर जाते थे। कई लोग आते थे, उठाकर ले जाते थे! साथवाले उनको समझाते थे 'देखिए, इसको सम्भालकर रख देना चाहिए।' उन्होंने कहा 'न तो मैंने किसी से कहा कि लाकर रखो और न किसी को कहूँगा कि मत ले जाओ। जिसकी मर्जी वह लाये, जिसकी मर्जी वह ले जाये।' यदि विषयों में तुम्हारा मन इस प्रकार है, तब तो तुम्हारी नजर उधर नहीं जायेगी। अन्यथा विषय हैं और उसका असर मन के ऊपर न आवे - यह सम्भव नहीं।

विषयों के पड़े हुए जितने संस्कार हैं उनसे जब मन रहित होता है, तब स्थिरभाव से स्मृति कर सकता है।

प्रत्यक् चित् में मन लगाना होगा तो 'सविधम्' शास्त्र में बताई हुई विधि के अुनसार ही मन लगाना पड़ेगा। पहले विषयों की निवृत्ति, फिर विधिपूर्वक परमात्मा की तरफ दृष्टि लगाना। शास्त्रीय भाषा में त्वंपदार्थ का शोधन करना ही उसकी विधि है। जिस-जिस चीज को मैं 'मैं' समझता हूँ, उनमें कौन-सी चीज 'मैं' हूँ, और कौन-सी चीज 'मैं' नहीं हूँ- जब इसको क्रम से आदमी सोचता है तब वहाँ पहुँच जाता है।

दृढतापूर्वक इसे करने के लिए जरूरी है प्राणों को नियन्त्रित करना। प्राणों में जब स्पन्दन होता है तब मन में स्पन्दन होता ही है। प्राण और मन आपस

में किस प्रकार सम्बन्धित हैं, इसको बताते हुए भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि जैसे काँच का एक तरफ का हिस्सा मुख को नहीं दिखाता है, चमकदार नहीं होता। दूसरी तरफ का हिस्सा चमकदार होता है, उधर ही मुँह दीखता है। कोई सोचे कि 'काँच को बीच से फाड़ दो, जितने में मुँह दीखता है उतने को रख लेंगे।' तो उतना रखने से मुँह नहीं दीखेगा! इसी प्रकार प्राण और मन एक ही तत्त्व हैं। प्राण के अन्दर ज्ञान की प्रतीति नहीं होती है। मन के अन्दर ज्ञान की प्रतीति होती है। पर है दोनों एक ही तत्त्व। इसलिए मनोनिरोध के लिये प्राणों का अवरोध करना ही होगा।

कैसे करना होगा? मन को प्रत्यक् चित् के अन्दर पूरी तरह से अवस्थित करने से, उधर लगाने से। मन लग गया, यह कैसे पता चलता है? मन उस आनन्दरूप के अन्दर सर्वथा एकाग्र होगा तब शरीर के रोएँ खड़े हो जाते हैं, रोमहर्षण हो जाता है। जब कोई अत्यधिक आनन्दित होता है तब शरीर के अन्दर जितने रोम हैं, वे खड़े हो जाते है। ऐसा अनुभव होता है। और आँखों से जल बहने लगता है; आनन्द का जब अतिशय होता है तब नेत्रों से जल का प्रवाह होता है। अत्यधिक दुःख में भी जलका प्रवाह होता है, अत्यधिक सुख में भी। और कैसी प्रतीति होती है? जैसे जल की झील के अन्दर डूब जाओ तो सर्वथा उससे एक हो जाते हो, उसके सिवाय और कुछ नहीं दीखता, वैसे अमृतस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में डूब जाते हो तो कहीं भी शिव के सिवाय और कुछ नहीं रहता, शिव ही शिव है। उसे देखने से असीम आह्लाद होता है। उस तत्त्व को धारण करनेवाले भी निश्चित रूप से भगवान् ही हैं। अर्थात् वह आनन्दघन इस प्रकार से तुम को उसका स्मर्ता बनाता है- 'जो मैं इन सब संसार के पदार्थों को प्रकाशित कर रहा था, वह मैं आनन्दघन ज्ञानरूप हूँ'।।२५।।

श्लोक-२६

स्मरणप्रकार का विचार किया। पहले पदार्थ का शोधन करना जरूरी बताया। बन्धन के स्वरूप और मोक्ष के स्वरूप में जो एक है उस को समझकर जो प्रत्यभिज्ञान होता है वही स्मरण है। कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, इस प्रकार

मैं अपने को जानता हूँ, अतः सर्वथा नहीं जानता ऐसा नहीं है। और अकर्ता, अभोक्ता, सुख-दुःख से अतीत व्यापक अपने स्वरूप को नहीं भी जानता हूँ। इन दोनों के स्वरूप को समझने के लिए इनके शोधन की जरूरत पड़ती है। त्वंपदार्थ के शोधन की, जीव के शोधन की प्रक्रिया बतलायी। पहले यमादिका अभ्यास, फिर प्राणायामादिका अभ्यास, फिर विषयों से मनको हटाने का अभ्यास, ऐसा करके जो दीखता है, उसको छोड़कर, जो देखने वाला है, उसमें चित्त को एकाग्र करना है। देखनेवाले का स्वरूप क्या है? देखनेवाला क्या है? अनादि कालसे जो देखा जा रहा है, उसका तो हम लोग विवेचन करते रहते हैं। परन्तु जो देखनेवाला है उसका नहीं। जैसे ही उसकी तरफ हम ध्यान देते है, वैसे ही परमानन्द का अनुभव होता है। इस परमानन्द के अनुभव में ही शरीर में रोमांच, आँखों से जलका बहना आदि स्वाभाविक रूप से होने लगता है। जिस आनन्द का अनुभव होता है, उस आनन्द की एक बूंद में ही ब्रह्मलोक से लेकर यहाँ तक जितने सुख हैं वे सब निहित हैं। उस परमसुख का अनुभव होने पर अपने आप ही रोमहर्षण, आनन्दाश्रुका प्रवाह आदि होने लगता है। जिसको देखने से यह हो रहा है वही शिव है। देखनेवालें के रूप को जब हम जानते हैं तब वह शिव पता चलता है।

इस प्रकार त्वंपदार्थ को जब ठीक तरह से समझ लिया तब तत्पदार्थ का शोधन करना पड़ता है। अतः ईश्वर के स्वरूप का विचार करते हैं-

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।।२६।।

(पदच्छेदः)

त्वम् अर्कः त्वम् सोमः त्वम् असि पवनः त्वम् हुतवहः
त्वम् आपः त्वम् व्योम त्वम् उ धरणिः आत्मा त्वं इति च।
परिच्छिन्नाम् एवम् त्वयि परिणताः बिभ्रतु गिरम्
न विद्मः तत् तत्त्वम् वयम् इह तु यत् त्वम् न भवसि।।

(सान्वयार्थः)

त्वम् = आप (ही) **अर्कः** = सूर्य (हैं) **त्वम्** = आप (ही) **सोमः** = चन्द्रमा (हैं) **त्वम्** = आप (ही) **पवनः** = हवा (हैं) **त्वम्** = आप (ही) **हुतवहः** = अग्नि (हैं) **त्वम्** = आप (ही) **आपः** = जल (हैं) **त्वम्** = आप (ही) **व्योम** = आकाश (हैं) **त्वम्** = आप (ही) **धरणिः** = धरती (हैं) **च** = और **त्वम्** = आप **उ** = ही **आत्मा** = आत्मा **असि** = हैं, **इति** = बस (इतना ही) **एवम्** = (आपका रूप इस प्रकार है) इस प्रकार **परिणताः**[1] = पण्डित लोग **त्वयि** = आपके बारे में **परिच्छिन्नाम्** = संकुचित **गिरम्** = वाणी **बिभ्रतु** = प्रकाशित करते हैं। **वयम्** = हम **तु** = तो **इह** = इस संसार में, **यत्** = जो **त्वम्** = आप **न** = नहीं **भवसि** = हों, **तत्** = उस **तत्त्वम्** = वस्तु को (ही) **न** = नहीं **विद्मः** = जानते हैं।

(१–यहाँ भगवान् को सीमित करने वालों का उपहास करने के लिये उन्हें पण्डित कहा है।

इस श्लोक में ईश्वर के रूप का निरूपण किया गया है।)

भगवान् शंकर की इस ब्रह्माण्ड में आठ मूर्तियाँ हैं। उन अष्ट मूर्तियों का विचार करते हैं। दो मूर्तियाँ कालका विधान करनेवाली हैं। समय का निर्धारण सूर्य और चन्द्रके द्वारा ही होता है। आज क्या तिथि है इसका पता चन्द्र को देखकर ही लगता है। चन्द्र के द्वारा ही मास, पक्ष, तिथि इन सबका निर्णय होता है। सूर्य तो हमेशा एक जैसा ही रहता है, चन्द्रमा हर तिथि के अनुसार घटता-बढ़ता है। इसी प्रकार शुक्ल-कृष्ण पक्षों का निर्णय चन्द्र करता है। मास का निर्णय भी वही करता है। दिन का निर्णय सूर्य से होता है। सूर्योदय से सूर्योदय तक एक दिन अहोरात्र, दिन-रात होता है। सोमवार कब शुरू होगा? जब सूर्योदय होगा। मंगलवार कब शुरू होगा? जब अगले दिन सूर्योदय होगा। दिन का निर्णय सूर्य करता है। इसी प्रकार ऋतुओं का निर्णय भी सूर्य करता है। दक्षिणायन और उत्तरायण का निर्णय भी सूर्य से होता है। संवत्सर का निर्णय भी सूर्य से होता है। वैशाख की संक्रान्ति से मुनः वैशाख की संक्रान्ति पर पहुँच जाये तब एक संवत्सर हो जाता है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र मिलकर सारे कालों का विधान करते हैं।

यह याद रखना है कि जैसे बाह्य जगत् में समय का निर्धारण होता है,

वैसे ही शरीर में भी एक सूर्य नाडी और चन्द्र नाडी है। इन दो के द्वारा शरीर में भी अपना एक कालनिर्णय है। इन दो नाडियों की गति से ही शरीर के अन्दर ऋतुका भेद, नक्षत्रका भेद, इत्यादि सारे भेद होते हैं। कभी अपनी जीभ पर ध्यान दो, सब समय जीभ का स्वाद एक-जैसा नहीं रहता। कभी स्वभाव से जीभ में नमकीनपन ज्यादा होता है, कभी खट्टापन ज्यादा होता है, कभी मीठापन ज्यादा होता है। अलग-अलग स्वाद जीभ के अन्दर तत्-तत् समय आते हैं। उसका कारण इन ऋतु आदि का भेद है। जिस प्रकार बाहर के सूर्य-चन्द्र हैं, उसी प्रकार शरीर में भी सूर्य नाडी और चन्द्र नाडी कालका विधान करती है।

सूर्य इस जगत् का आत्मा कहा गया है। वेद कहता है, 'सूर्य आत्मा जगतः तस्तुषश्च।' जितनी चलनेवाली चीजें हैं, और जितनी स्थिर चीजें हैं उन सबका, सारे चराचर जगत् का आत्मा सूर्य ही है। वैसे 'सू' धातु का अर्थ होता है उत्पन्न करना। इसीलिए जब कोई बच्चा पैदा होता है तो कहीं-कहीं कहते हैं 'सूआ' हो गया। 'प्र' साथ में लगाकर 'प्रसव' शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध है। सूर्यका अर्थ है सबको उत्पन्न करनेवाला। पृथ्वी आदि जितने ग्रह हैं, वे सारे सूर्य से ही उत्पन्न हुए हैं। हम लोगों के पास जितनी ऊर्जा है, यह सारी सूर्य की ही ऊर्जा है। पेड़ अपनी पत्ती के 'क्लोरोफिल' के माध्यम से अपने को बढ़ाते हैं और उन्हें जलाकर ही हम लोगों को ऊर्जा मिलती है। पेड़ ही जमीन के नीचे दब जाते हैं, कालके परिणाम से, पृथ्वी के अन्दर ही अन्दर जलकर कोयला बन जाते हैं। ये सारी कोयले की खानें दबे हुए जंगल ही हैं। और अधिक गर्मी से जलते हैं तो उससे मिट्टी का तेल, पेट्रोलियम निकल जाता है। इन सब पदार्थों का केन्द्र, ऊर्जा का केन्द्र सूर्य ही है। सब कुछ सूर्य से उत्पन्न हुआ, सूर्य के द्वारा ही यह जीवित है, चल रहा है। और अन्त में सब हिरण्यगर्भरूप सूर्य में ही विलीन हो जायेगा। अतः सूर्य को आत्मा कहा।

चन्द्र मन है। जैसे चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से आता है उसी प्रकार मन के अन्दर आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाश आता है। मन स्वप्रकाश तो नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध के बिना मन तो जड ही है। जिस-जिस भाग में सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वह-वह भाग प्रकाशित होता है, बाकी चन्द्रमा के

अन्दर अन्धेरा रहता है। इसी से चन्द्रमा के अन्दर वृद्धि और क्षय होते रहते हैं। सूर्य नाडी उन कार्यों को करती है जिन में आत्मा प्रधान होता है। चन्द्र नाडी उन कार्यों को करती है, जिनमें मन प्रधान होता है। बिल्कुल बन्द कमरे में बैठे रहो। बाहर का कोई ज्ञान, कोई आवाज तुमको न आवे। फिर भी मैदान जाने का समय है, शौच जाने का समय है, यह अपने आप तुम्हें पता लग जाता है। भूख लगने का समय है यह भी अपने-आप पता लग जाता है। वहाँ अन्धेरे में कोई घड़ी तो है नहीं कि उससे पता लगा! प्राय: तो हम अपने व्यवहार में यही देखते हैं कि आठ बज गये तो भूख लग गयी, चार बज गये तो चलो शौच के लिये। लगता है मानो घड़ी देखकर सब होता है, पर ऐसा कुछ नहीं है। बिल्कुल बन्द कमरे में जहाँ तुमको किसी चीज का ज्ञान नहीं, वहाँ भी शरीर तुमको बतला देता है।

पुराने जमाने में लोग घड़ी की अधीनता में न रहकर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि को देखकर समय का निर्धारण करते थे। इसी प्रकार अपने अन्दर की नाडियों के ज्ञान से भी समय का निर्धारण कर लेते थे। धीरे-धीरे जैसे अन्य चीजों में वैसे कालज्ञान में हम पराधीन हो गये। मनुष्य के अन्दर ऐसी आदत है कि कोई बाह्य सहारा लेने लगता है तो अन्दर की शक्ति क्षीण होने लगती है। जितना -जितना लोग कहते हैं कि सभ्यता का विकास हो रहा है उतना-उतना हमारे शरीर के अन्दर क्षीणता आ रही है। आप लोगों में से जो बड़ी उम्र के हैं वे जानते हैं।- बचपन में खेलते थे। गिर जाते थे, घुटने में चोट लगती थी, खून निकलता था। क्या करते थे? मिट्टी लगा देते थे। ठीक हो जाता था। शरीर में अपनी शक्ति थी कि उसे ठीक कर देता था। अंगुली कट गई। पानी में रख दो, ठीक हो जाती थी। अपनी शक्ति थी। लेकिन आज अगर लग गया तो टिटनेसविरोधी सुई लगाओ नहीं तो गड़बड़ हो जायगा। डिटॉल लगाओ। इन साधनों के कारण हमारी जो अपनी शक्ति थी, वह क्षीण हो गई। अब यदि नहीं लगाओगे तो सचमुच रोग हो जायेगा क्योंकि वह शक्ति तो हमने क्षीण कर ली। इसी प्रकार हर प्रकार की शक्ति का जब हम उपयोग नहीं करते, बाहर की शक्ति का सहारा लेते हैं, तब अपनी शक्ति क्षीण होती रहती है। इसी प्रकार घड़ी आदि के सहारे से

समयनिर्धारण की आदत पड़ जाने से घड़ी के बिना न हमको अन्दर का समय पता लगता है, न बाहर का समय पता लगता है।

इसी प्रकार यद्यपि आत्मा के प्रकाश से मन प्रकाशित होता है यह बात पहले लोग समझते थे तथापि अब समझमें ही नहीं आती। अब मनको ही जाननेवाला मानते हैं। मनके बिना कौन जानेगा? बात बड़ी सरल है, कोई मुश्किल नहीं है। मनके बिना कौन जानेगा- यह भी ठीक है, परन्तु मन को जानते हो कि नहीं? मनको मनसे तो जानोगे नहीं। मनको जाननेवाले तुम अलग हो। आकर लोग कहते हैं, 'आपने आधा घंटा ध्यान करने को कहा है; हम बैठते हैं, पर ध्यान लगता नहीं इसलिए अब हमने बैठना कम कर दिया।' हम कहतें हैं कि हमने तुमसे क्या कहा था? आधा घंटा तुम बैठना। हमने यह तो कहा नहीं था कि आधा घंटा मन को बैठाना। मनके ऊपर तुम्हारा नियन्त्रण हो जाये तब तो तुम साक्षी चेता बन ही जाओगे! हमने तुमको बैठने को कहा था, मनको बैठाने को नहीं कहा था। मन को बैठाना बड़ा कठिन मामला है। आचार्य शंकर कहते हैं-'हृदयकपिमत्यन्तचपलम्' यह मन कपि की तरह है, बन्दर की तरह है, अत्यन्त चञ्चल है। एक आशा की डालसे दूसरी आशा की डाल पर कूदता रहता है। बन्दर जो ठहरा! एक इच्छा पूरी हुई कि झट दूसरे की इच्छा पैदा हुई। यों कूदता रहता है। इसे नियन्त्रित करना हमारे बस का नहीं है। 'शिव भवदधीनं कुरुविभो!' हे शिव! इसको आप अपने नियंत्रण में लें। हमने तुमको बैठने को कहा था, हमने यह नहीं कहा था कि तुम शिव बन गये हो, अपने मनका नियन्त्रण कर लेना। मनका नियन्त्रण तो शिव ही कर सकते हैं। तुम बैठ जाओ मनको करने दो जो कर रहा है। मन की चिन्ता छोड़ो। परन्तु हम मनसे इतने एक हो गये कि सोचते हैं मन नहीं बैठता तो हम बैठे ही नहीं। जो आत्मा और मन के स्वरूप को ठीक से समझ लेता है, वह साक्षी और अन्तःकरण की वृत्तिको स्फुट समझ लेता है।

वायुरूप भी भगवान् शंकर हैं। शरीर के अन्दर भी प्राणरूप वायु ही है। शरीर में हम कब तक जीवित माने जाते हैं? जब तक प्राण हैं। प्राण निकलने के बाद मरे माने जाते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं, 'गतवति वायौ देहापाये भार्या

बिभ्यति तस्मिन् काये।' शाम के समय कोई मर गया। रात में शव जलाते नहीं। दिया जलाकर रख देते हैं, लोग बैठे रहते हैं। धीरे-धीरे सबको नींद आने लगती है। एक-एक आदमी सरक जाता है। पत्नी के लिए कोई दूसरा कमरा तो है नहीं! सब जाने लगते हैं तो वह चिल्लाती है 'अरे! सब मत जाओ मुझे डर लगता है।' रोज अकेली सोती थी, कभी नहीं कहती थी कि 'मुझे डर लगता है!' यही सोचती थी कि अन्य लोग कब जायें तब पति के साथ अकेली रहूँ! आज क्या हो गया? आज किस बात का डर लग रहा है? वायु निकल गया है। शरीर तो वही है, पर उस शरीर से भार्या भी भय खाती है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर वायु को साक्षात् ब्रह्म कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है- वायु तुमको नमस्कार है क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। प्राण चल रहा है तो सब जानते हैं कि इसके अन्दर अभी आत्मा मौजूद है। और किसी तरह से पता नहीं लगता कि यह जिन्दा है कि नहीं है। प्राण की गतिको देखकर ही पता चलता है। चाहे नाड़ी देखो, चाहे हृदय की गति को देखो, सब प्राण की गति ही है। पुराने लोग नाक के आगे रुई रखकर देख लेते थे। हर हालत में देखते तो प्राण ही हैं। प्राण ही इस शरीर के अन्दर आत्मा मौजूद है, इसका प्रयत्क्ष प्रमाण है। मरने के बाद न साँस चलता है, न हृदय चलता है अतः रक्तचाप भी नहीं रहता।

प्राणवायु के अन्दर किसी प्रकार का स्पर्शदोष नहीं आता। सब चीजों में स्पर्शास्पर्श होता है। इसने छू लिया, उसने छू दिया, उसका जूठा मत खाओ, इसका जूठा मत खाओ। केरल में तो कई जगह जब सफाई कर्मचारी सफाई करके जाता था तब उस जगह को गंगाजल का छींटा देकर शुद्ध करते थे। पृथ्वी के स्पर्श को भी लोग अशुद्ध मानते हैं। पत्तल रखकर तुम भोजन करते हो, भोजन के बाद उसको तुम धोते हो क्योंकि जमीन जूठी हो गयी। सब चीजों के अन्दर इस प्रकार का शुद्धाशुद्धि का विवेचन है। यह भी कभी देखते हो कि जो सांस हम ले रहे हैं, वह कितने लोगों के मुँह से निकलकर आयी है? वायु में जूठन नहीं है। चाहे जिस मुँह से वायु निकलती है, वही अपने मुँह में जाती है, इसमें कोई स्पर्शास्पर्श का विचार करता नहीं। कोई नहीं कहता कि यह जूठी वायु हम

कैसे लेवें? क्यों? जैसे ब्रह्म नित्य शुद्ध है वैसे वायु भी नित्य शुद्ध है।

अगर नित्य शुद्ध है तो आजकल वायु में प्रदूषण कैसे हो रहा है? प्रदूषण वायु का नहीं है। वायु के अन्दर धुँआ आदि जो मिल रहा है, वह प्रदूषण है। अत: उन चीजों को दूर करने का प्रयत्न करते हो, वायु तो वही रहती है। दिल्ली के अन्दर आश्रम से ढाई-तीन मील आगे एक चौराहे पर बहुत ज्यादा प्रदूषण है। जो सिपाही वहाँ पर वाहनों का नियन्त्रण करता है, वह दो-एक बार बेहोश होकर गिर गया। इतना जबरदस्त प्रदूषण है। सरकार ने सिपाहियों को एक 'मास्क' दिया है, ठीक जैसे गणेशजी की सूंड होती है! उस मास्क के अन्दर धुआँ इत्यादि प्रदूषणांश छन जाता है, वायु आ जाती है। स्वयं वायु तो शुद्ध ही है। उसमें दूसरी चीज अशुद्ध है। स्वत: वायु की कोई अशुद्धि नहीं है। अत: सूर्य-चन्द्र के बाद महादेव की मूर्तियों में सबसे पहले वायु का नाम लिया।

शरीर के अन्दर भी वायु है, बाहर भी वायु है। बाहर की वायु व्यापक वायु है। जैसे शरीर के अन्दर प्राण सारे कामों को करने में प्रधान हेतु है, कोई भी क्रिया होगी तो वह प्राण की ताकत से होगी। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र ये सब चल रहे हैं, तो इन्हें चलानेवाली वायु ही है। वायु के द्वारा ही ये सब चल रहे हैं। शास्त्रों के अन्दर उनंचास वायुओं का वर्णन किया गया है जो भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य करते हैं। जैसे सूर्य, चन्द्र भगवान् शंकर की मूर्ति है, उसी प्रकार पवन भी भगवान् शंकर की मूर्ति है। अब तक हम समझते थे कि सूर्य कोई और है, चन्द्र कोई और है, पवन कोई और है। अब सब पदार्थों का शोधन करने पर लगता है कि ये सब शिव के सिवाय और कोई नहीं हैं।

एक बड़े सन्त हुए हैं, दक्षिण भारत में, ज्ञान संबन्ध। वे किसी काम से जा रहे थे। दूसरे बुजुर्ग चाहते थे कि वो न जायें, खतरे की जगह थी। उन्हें समझाया 'मत जाओ'। वे जवान थे, कहा, नहीं, मै तो जाऊँगा। तब जब कोई बहाना नहीं चला उन्होंने कहा 'आज तो रुक जाओ। आज दिशाशूल है'। सम्बन्ध ने कहा ' आप यह बताइये कि किस दिशा में शिव नहीं है? सभी दिशाओं में अगर शिव है, तो यह दिशाशूल उसी को हो सकता है, जो सबको शिवरूप नहीं देखता'। कोई जवाब नहीं था। वे गये और बड़ी सफलतापूर्वक काम किया। जिन

सूर्य, चन्द्र, पवनादि को देख रहे हो वे हैं तो शिव, बस पहचान में नहीं आ रहे हैं।

त्वंपदार्थ के शोधन में बतलाया था कि मैं ही वस्तुत: ब्रह्मस्वरूप हूँ। पर मैं अपने को पहचानता नहीं अत: मैं ही अपने को शिव से भिन्न समझता हूँ। वैसे ही सूर्य, चन्द्र, वायु इन सबको शिव से भिन्न समझता हूँ। जैसे त्वंपदार्थ का शोधन किया तो पता लगा कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, ऐसे ही तत्पदार्थ का शोधन करने पर पता लग जाता है कि वस्तुत: यह सारा संसार शिवस्वरूप ही है।

हुतवह अग्नि को कहते हैं। जैसे वायु के लिए पवन का प्रयोग कर, उसे सब चीजों को पवित्र करने वाला बताया गया है, इसी प्रकार अग्नि के लिए 'हुतवह' शब्द का प्रयोग करके बताते हैं कि हम लोग जो कुछ भी आहुति देते हैं, अग्नि उसका वहन करके तत् - तत् देवताओं को प्राप्त कराती है। इसलिए देवताओं को अग्निमुख कहा है, अग्नि ही देवताओं का मुख है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है, 'मुख से ही ब्राह्मण पैदा हुआ है, मुख से ही अग्नि पैदा हुई है। अत: दोनों मुख से पैदा होने से एकरूप हैं।' अग्रे नीयते अर्थात् आगे पहुँचा देता है इसलिए उसको अग्नि कहते हैं। ब्राह्मण को भी अग्नि कहते हैं क्योंकि ब्राह्मण मनुष्य को आगे का रास्ता बताता है। इसीलिए अग्नि को वेद में पुरोहित शब्दसे कहा, 'अग्निमीळे पुरोहितम्'। पुरोहित 'पुर:' अर्थात् आगे 'हित:'; जो तुम्हारे आगे के हित के बारे में बताये वही तुम्हारा पुरोहित है। अग्नि यही करता है। अत: अग्नि को पुरोहित नाम से कहा गया।

जो हमारे सामने रूप आता है वह रूप अग्नि तत्त्व के बाद ही आता है। अग्नि तत्त्वसे जल उत्पन्न होता है, अत: जल में भी रूप आता है। चक्षु का विषय होना अग्नि से प्रारम्भ होता है। जल से पृथ्वी हुई, अत: पृथ्वी को भी आँख देखती है। अग्नि उत्पन्न होने से पहले वायु और आकाश ये दोनों ही आँख का विषय नहीं हैं। संसार के जितने पदार्थ आँख के विषय हैं वे सारे अग्नि के विषय हैं। अग्नि से ही आगे का सारा रूपप्रपंच बनता है। अग्नि के माध्यम से ही सारे देवताओं को तुष्ट किया जाता है। यह अग्नि परमात्मा का रूप है। परमात्मा की शक्ति से ही अग्नि आगे ले जाती है, और जो कुछ चढ़ाया जाता है उसे प्राप्त

कराती है। बिना परमात्मा के अग्नि यह सब करने में समर्थ नहीं हो सकती, अतः वास्तविकता तो यह है कि वह परमात्मा ही है।

शिव ही जल है। निरुक्तमें बतलाया कि 'अप् इति कर्मनाम'। कर्म को अप् या जल कहते हैं। जल से आचमन करके ही कोई कर्म प्रारंम्भ होता है। जल हर कर्म के लिए अपेक्षित होता है। अतः जब घर में कोई मृत्यु हो जाती है, बच्चा पैदा हो जाता है, रेल की यात्रा में कोई अशुद्धि हो जाती है, तब बिना जल के मानसिक सन्ध्या करने का विधान है। एक तरफ कहा गया है कि अशुद्धि अवस्था में कर्म नहीं करना है। और यह भी कहा कि तब बिना जल के कर लेना चाहिए। विरोध लगता है, पर विरोध है नहीं, क्योंकि जल के बिना कर्म नहीं होता है।

शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है कि जो यहाँ आहुति दी जाती है वह अप्‌रूप से ही हिरण्यगर्भरूप सूर्य को प्राप्त होती है। इसलिए जब जीव यहाँ से जाकर हिरण्यगर्भ से वापस आता है तब जल के साथ ही आता है। इसलिए वापस आने के रास्ते में जल की ही प्रधानता होती है। सूर्य की किरणों से समुद्ररूपी जल में, समुद्र रूपी जल से बादल-रूपी जल में, बादलरूपी जल से जमीन में, उससे फिर जल रूप से, रसरूप में गेहुँ, चावल के अन्दर, उस गेहुँ-चावल से पेट के अन्दर, फिर रसपाक होकर शुक्रशोणित रूप से। ये सब जलरूप ही हैं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के अन्दर जल के द्वारा ही यह सारा आवागमन बताया है। अतः जल का प्रयोग होने से कर्म को जल कहते हैं। आचार्य शंकर इस प्रसंग में कहते हैं कि घी आदि भी बहते हैं अतः जल की तरह ही समझे जाने चाहिए। जल में यह सामर्थ्य आती कहाँ से है? परमात्मा के कारण ही यह सामर्थ्य जल में आती है। जल में सामर्थ्य देनेवाले शिव ही हैं।

अपने यहाँ किसी भक्त ने गंगाजी की प्रार्थना करते हुए कहा है कि कुछ लोग तो नराकार को ही अच्छा समझते हैं, राम कृष्णादि को ही अपना इष्ट मानते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'मनुष्य की आकृति ठीक नहीं। हम तो निराकार को मानते हैं'। नराकार (साकार) और निराकार के इस झगड़े को छोड़कर हम तो नीराकार (जलाकार) को ही मानते हैं। हम तो गंगाजल की ही

उपासना करते हैं; इसका ही ध्यान करते हैं। साकार और निराकार के झंझट मे कौन पड़े। गंगाजी के बारे में न साकारवादी कुछ कह सकता है, न निराकारवादी कुछ कह सकता है।

आप ही आकाशरूप हैं। विचार करके देखो तो 'व्योम' विचित्र शब्द है। 'वि' और 'ओम' मिलकर बना व्योम। आत्मा से पहले आकाश ही उत्पन्न होता है। आत्मा ओंकारूप है। उसके अन्दर जब विक्षेप हुआ, बाह्य स्पन्दन हुआ तब पहला स्पन्दन व्योम हुआ। मैं एक ही बहुत हो जाऊँ, ऐसा संकल्प बना तब उस संकल्प के अनुसार ही सबसे पहले आकाश बना। अत: आकाश शब्द का अनेक उपनिषदों में प्रयोग ब्रह्म के लिए ही है। कुछ आचार्य कहते हैं कि आकाश शब्द ब्रह्म में ही रुढ है। भूताकाश को तो गौण प्रयोग से कहा जाता है। सूत्र के अन्दर 'आकाश' -शब्द पर विचारकर निर्णय किया है कि आकाश शब्द ब्रह्म को बतलाता है। ब्रह्म व्यापक है और लोक में आकाश भी व्यापक है अत: इस भूताकाश को भी आकाश शब्द से कह दिया। वस्तुतस्तु चिदाकाश ही आकाश है। आकाश जिस प्रकार से सब चीजों को अपने अन्दर होने देता है, परन्तु सब होने से उसमें किसी प्रकार का विकार आता नहीं। ठीक इसी प्रकार अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रहते हैं, फिर भी वह वैसा का वैसा रहता है, उसके अन्दर कोई भेद, विकार नहीं आता।

जैसे कहीं दावानल जल रही हो तो उसमें चिनगारियाँ (विस्फुलिंग) निकलती हैं, बस ऐसे ही उस परब्रह्म परमात्मा में से जीव निकलते हैं। चिनगारी के निकलने से कोई कमी नहीं आती, आग तो वैसी की वैसी है। इसी प्रकार उस अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा से सारी चीजें निकलती हैं पर उसमें कोई विकार नहीं आता। कहीं-कहीं मन्दिर के अन्दर मूर्ति के दोनो तरफ काँच लगे होते हैं। एक तरफ के काँच में देखो तो काँच के अन्दर बीसों मूर्तियाँ दिखाई देंगी और दूसरी तरफ भी बीसों मूर्तियाँ दिखाई देंगी! परन्तु इतनी मूर्तियों को धारण करने पर भी जो मूल मूर्ति है, उसमें कोई विकार आता है क्या? ऐसा तो नहीं है कि इतनी मूर्तियों के होने पर मूल मूर्ति में कोई कमी आ जाती है! इसी प्रकार अनन्त अहंकारात्मिका वृत्तियों के अन्दर रहते हुए भी वह अधिष्ठान परमात्मा

वैसा का वैसा रहता है।

आकाश में सब कुछ होता है, आकाश के बिना कुछ भी नहीं हो सकता, फिर भी आकाश अविकृत (विकार रहित) रहता है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में सारी सृष्टि होती है। उसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता पर फिर भी वह अविकृत बना रहता है। भगवान् ने भी गीता में कह दिया, 'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'। सारे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्रों को मैनें बनाया। सबको बनानेवाला मैं हूँ। लेकिन बनाने वाले को तुम अकर्ता समझना क्योंकि उनको बनाते हुए भी मैं बनानेवाला नहीं होता। व्योम परमात्मा के अत्यन्त सन्निहित रूप से प्रकट होता है। अत: उसका नाम व्योम रखा।

व्योम का अपभ्रंश हिंदी में 'बम' हो गया है। 'व' का 'ब' हो जाता है। कभी बिहार में जाओ, तो भगवान् शंकर के मन्दिर में 'बम-बम महादेव' 'बम-बम महादेव' कहते हैं। 'बम' से 'व्योम' को ही कहते हैं। काँवड़ लेकर आते हैं, बड़े जोर से 'बम-बम' करते हैं।

आप ही पृथ्वी हैं। सबको धारण करनेवाली होने से ही पृथ्वी को धरणि कहते हैं। उपनिषदों में इसलिए परमेश्वर को धारण करनेवाला 'सेतु' बतलाया। सारे जलों को बाँधकर धारण करता है, नहीं तो चारों तरफ बहकर बाढ़ आ जाये। इसी तरह संसार की सारी व्यवस्थाओं को यदि धारण नहीं करता होता, तो जैसे बालू बिखर जाती है वैसे ही संसार की सारी व्यवस्था बिखर जाती। वह सेतु बनकर सबको धारण किये रहता है। इसलिए वही सबकी धरणि है।

ये सप्त मूर्तियाँ बतलायीं- पंचमहाभूत, सूर्य और चन्द्र। इन सबके अन्दर चेतनरूप से विद्यमान आत्मा भी आप ही हैं। अन्तर्यामी ब्राह्मण के अन्दर बृहदारण्यक में, यही बतलाया कि वह पृथ्वी में रहता है, पृथ्वी उसको नहीं जानती, परन्तु पृथ्वी में रहते हुए वह पृथ्वी को जानता है। जिस प्रकार मैं साक्षी रहता हूँ। स्थूल, सूक्ष्म शरीर मुझे नहीं जान सकते, पर मैं उनको जानता हूँ। उसी प्रकार वह अन्तर्यामी अमृत है। वह आत्मा भी आप ही हैं। यही आठवीं मूर्ति है!

अब कहते हैं कि विद्वान् लोग चीजों को समझने के लिए इन आठ भागों

में बाँटते हैं पर हम तो यही समझते हैं कि क्यों आठ की संख्या में उनको परिच्छिन्न करें, कि ये आठ ही मूर्तियाँ हैं? जो भी तत्त्व है, वह आप ही हैं। अष्ट मूर्तियों के ब्रह्माण्ड का कण-कण और क्षण-क्षण आपकी मूर्ति ही लगता है। इस प्रकार तत्पदार्थ का शोधन किया।।२६।।

श्लोक-२७

त्वंपदार्थ का और तत्पदार्थ का शोधन बताया। अब महावाक्य के द्वारा दोनों की एकता का प्रतिपादन करते हैं। यही शास्त्र का क्रम है। किसी भी वाक्यार्थ का ज्ञान होने से पहले प्रत्येक पद या शब्द के अर्थ का ज्ञान होना ज़रूरी होता है। वर्तमान काल में तेजी से पढ़ने की आदत के कारण अधिकतर लोग पद के अर्थ को जानते ही नहीं। पद अर्थात् शब्द। हर शब्द के अर्थ का पता होना चाहिए। अगर शब्द के अर्थ का पता नहीं है तो कौन क्या कह रहा है, यह पता ही नहीं लगता। इसीलिए हम लोगों की साधारण बातचीत में भ्रम रहता है। जहाँ विचार अपेक्षित होता है वहाँ भी भ्रम होता है। खासकर आजकल लोग अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते हैं। लैटिन और ग्रीक यूरोप की भाषाओं का आधार हैं, उनका थोड़ा बहुत ज्ञान पढ़े-लिखे लोगों को यूरोप में जरूर करा दिया जाता है। इसलिए वे अपने शब्दों का अर्थ समझते हैं। हम लोग अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते हैं। परन्तु जब कभी किसी शब्द का अर्थ पूछते हैं तो कुछ बता नहीं पाते कि शब्द क्या कह रहा है। अन्दाज से काम चलता है। भारतीय भाषाओं का आधार है संस्कृत, उसको नहीं जानने के कारण हिन्दी इत्यादि जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसके शब्दों के भी निश्चित अर्थ का पता नहीं होता। नतीजा यह होता है कि हम लोगों के सोचने में सफाई नहीं आती। प्राय: जब हम लोग शास्त्रीय अर्थ के बारे में विचार करते हैं तब लोग समझते हैं कि हम शब्द का बड़ा भिन्न अर्थ कर देते हैं। भिन्न अर्थ नहीं है, उसका अर्थ ही वह है। जब तक उसको नहीं समझोगे वाक्यार्थ नहीं समझ सकते क्योंकि पदों से मिलकर वाक्य बनता है। जब पदों के अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, तब वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं ही होगा। सभी वाक्यों के लिए यह नियम है, महावाक्य के लिए भी यही नियम है।

महावाक्य में दो पद हुआ करते हैं -एक जीव को बतलाने वाला, दूसरा शिव को बतलाने वाला। कहीं वाक्य की पूर्ति के लिए क्रिया पद दे भी दिया जाता है, कहीं नहीं भी दिया जाता है। जैसे प्रसिद्ध जो चार महावाक्य हैं, उनमें सामवेद और यजुर्वेद के 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' में तो 'असि' और 'अस्मि' ये दो क्रिया पद हैं। पर ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' और 'अयमात्मा ब्रह्म' इनके अन्दर क्रियापद नहीं है। अत: महावाक्य के अन्दर दो पद प्रधान होते हैं। क्रिया पद हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है।

महावाक्य वह होता है जिसमें जीव और शिव की एकता का प्रतिपादन हो, उनमें तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का अभेदनिरूपण होगा। दोनों पदार्थों का भेद तो हर व्यक्ति जांनता हैं। जीव और ईश्वर का भेद है, यह कौन नहीं जानता?

एकबार एक बड़े द्वैतवादी पण्डित थे। जगह-जगह विजय करते हुए किसी गाँव में पहुंचे और कहा 'मैं द्वैतवाद को सिद्ध करूँगा। अगर आप लोग द्वैतवाद न मानते हों तो शास्त्रार्थ करो।' लोगों को पता था कि यह काशी से पढ़कर, बड़ा भारी पण्डित बनकर आया है। वे सब भगवान् शंकर के भक्त थे, अत: अद्वैत-को ही सत्य मानते थे। परन्तु गाँव के लोग इतने विद्वान् थे नहीं, आपस में विचार किया कि क्या करें। यह कहता है 'या शास्त्रार्थ करो या द्वैतवाद को स्वीकार करो'। एक बुजुर्ग ने कहा, 'चिन्ता मत करो, मैं इसकी सब व्यवस्था कर दूँगा। कह दो कि शास्त्रार्थ होगा। उसके लिए सब व्यवस्था कर दो। आसपास के गाँव के लोगों को भी बुला लो। सबके सामने होगा।'

जैसे ही वहाँ सब तैयारी हो गयी, शास्त्रार्थ शुरु होने ही वाला था, तभी एक आदमी ने आकर कहा "पण्डित जी आप यहाँ बैठे हैं? आपने तो नौ बजे हजामत बनाने को कहा था। मैं आपके घर गया पर आप यहाँ बैठे हैं!" पण्डितजी ने कहा, "अरे भगवन्, आपको तो पता होना चाहिए कि मैं आज शास्त्रार्थ में फँस गया हूँ।" जब हाथ जोड़कर 'भगवान्' कहा तो नाईने कहा, "यह आप क्या कर रहे हैं, मेरे ऊपर पाप चढ़ा रहे हैं? चलिये मैं कल आ जाऊँगा। आप विद्वान् हैं, मुझे ऐसा क्यों कहते हैं?" वह चला गया। फिर जब बात होने की तैयार थी तब एक और आदमी लकड़ी लिये पहुँचा। उसने कहा,

'पण्डितजी! आपने गधा भरकर मिट्टी मँगवायी थी, वह लेकर आपके घर पहुँचा तो आप यहाँ आकर बैठे हैं।' पण्डितजी उसको हाथ जोड़कर कहने लगे, ''हे परमेश्वर! तुम तो सब जानते हो। मैं यहाँ फँस गया हूँ। अब मैं यहाँ से कैसे जा सकता हूँ। तुम तो परमेश्वर हो।' उसने कहा, 'पण्डितजी! क्या बात कर रहे हो! मैं कैसे परमेश्वर हो सकता हूँ। और आप पण्डित, विद्वान्, आप कैसे हाथ जोड़कर माफी माँग सकते हैं! यह ठीक नहीं। मैं मिट्टी आपके घर पर गिरा दूँगा पैसे कल ले लूँगा।' वह गया। तब तक तीसरा आया। 'पण्डितजी! आपने मुझे धोने के कपड़े देने बुलाया था। मैं अपना घर छोड़कर आपके घर गया और आप इधर बैठे हैं!' पण्डितजी हाथ जोड़कर कहने लगे, 'अरे! तुम तो विष्णु हो, सब कुछ जाननेवाले हो। मैं तो यहाँ शास्त्रार्थ में फँस गया। तुम्हें तो पता ही था। मुझे माफ कर दो।' उसने भी यही कहा, 'कहाँ विष्णु वैकुण्ठवासी और कहाँ मैं! ऐसी बातें क्यों करते हैं? आप ब्राह्मण, मैं शूद्र। शूद्र में भी रजक। मुझे ऐसा कहकर पाप न चढ़ाइये। कोई बात नहीं, मैं कल आकर कपड़े ले जाऊँगा।'

अब पण्डित जी ने उस विद्वान् से कहा, ''भाई! तुम काशी में इतनी विद्या पढ़कर यही न सिद्ध करने आये हो कि जीव और ईश्वर अलग हैं। यह तो हमारे यहाँ नाई भी जानता है, धोबी भी जानता है, कुम्हार भी जानता है! इसके लिए तुमने इतना परिश्रम क्यों किया! यह क्या पढ़ा? जो तुम सिद्ध करने आये हो, यह हमारे यहाँ सब जानते हैं। शास्त्र का, प्रमाण का नियम तो यह है कि जिस बात का मनुष्य को पता न होवे, उसी को बताना; यही प्रमाण का, शास्त्र का कार्य है कि अज्ञात का ज्ञापन करना, जिसको पता नहीं, उसको बताना। जिसको सब जानते हैं, उसको बताना– यह तो अनुवाद होता है, इसका कोई भी प्रयोजन नहीं होता। जीव, ईश्वर का भेद तो लोकप्रसिद्ध है। अगर इसी बात का शास्त्र प्रतिपादन करेगा तो शास्त्र व्यर्थ हो जायगा, प्रमाण का जनक नहीं होगा, अनुवादक हो जायेगा।" वह द्वैतवादी पण्डित पढा-लिखा तो था ही, समझ गया कि प्रमाण तो तभी सही होगा जब अज्ञात का ज्ञापक होगा। उसने पण्डित जी की बात मानी और कहा 'मैं फिर जाकर इस विषय पर अधयyन करूँगा।'

जीव और ईश्वर की एकता जब महावाक्य बतलाता है, तब तुरन्त विरोध

सामने आ जाता है क्यों कि आजतक जो जाना है उससे वह बात विरुद्ध है। दोनों की एकता कैसे? इसको समझने के लिए त्वंपदार्थ का भी शुद्ध रूप जानना होता है और तत्पदार्थ का भी शुद्ध रूप जानना होता है। सचमुच में ईश्वर क्या है, और सचमुच में जीव क्या है। उपाधि के द्वारा कैसा प्रतीत होता है, और वस्तुतः कैसा है। जब वास्तविकता का पता लगता है तब महावाक्य का अर्थ स्फुरित हो जाता है। उसी को यहाँ ओंकार के द्वारा बतलाते हैं।

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्।।२७।।

(पदच्छेदः)

त्रयीम् तिस्रः वृत्तीः त्रिभुवनम् अथो त्रीन् अपि सुरान्
अकाराद्यैः वर्णैः त्रिभिः अभिदधत् तीर्णविकृति।
तुरीयम् ते धाम ध्वनिभिः अवरुन्धानम् अणुभिः
समस्तम् व्यस्तम् त्वाम् शरणद! गृणाति ॐ इति पदम्।।

(सान्वयार्थः)

शरणद[1] = हे भयभीतों को भयरहित करने वाले! **अकाराद्यैः** = अकार, उकार और मकार भेद से **त्रिभिः** = तीन **वर्णैः**[2] = अक्षरों में **व्यस्तम्** = बँटा हुआ **ॐ** = ओम् **इति** = यह **पदम्** = शब्द **त्रयीम्** = (ऋक्, यजुः और साम यह तीन) वेद **तिस्रः** = तीन **वृत्तीः** = अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति एवं इनके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ) **त्रिभुवनम्** = तीन लोक (भूः, भुवः और स्वः एवं इनके अभिमानी विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत), **त्रीन्** = तीन **सुरान्** = देवता (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र एवं इनके कार्य सृष्टि, स्थिति और प्रलय), **अथो** = अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत आदि सभी भेदों में **(व्यस्तं) त्वाम्** = (बँटे हुए) आपके रूप को **अभिदधत्** = (शक्तिवृत्ति से वाच्यार्थ का) वर्णन करता हुआ **अपि** = भी **समस्तम्** = (अकार, उकार और मकार के भेद से रहित) अखण्ड (ॐ) रूप से **अणुभिः** = सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम आदि **ध्वनिभिः**[3] = अर्ध मात्रा की ध्वनियों से **अवरुन्धानम्** = (जहत्–अजहत्–लक्षणावृत्ति से लक्ष्यार्थ का) वर्णन करते

हुए **ते** = आपके **तीर्णविकृति** = सारे विकारों से रहित शुद्ध **तुरीयम्** = सारी त्रिपुटियों से परे (**समस्तम्** = अखण्डार्थ) **धाम** = स्वरूप को **गृणाति** = बतलाता है।

(१—इस श्लोक द्वारा महावाक्यों के वाक्यार्थ को बताया है। वाक्यार्थज्ञान से सारे द्वैत को बाधित करके अद्वैत में स्थिति कराके भगवान् शंकर प्राणियों को अभय बना देते हैं क्योंकि श्रुति कहती है कि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'' (दूसरे से ही भय होता है) और ''अभयं वै जनक प्राप्तोसि'' (अद्वैत ज्ञान के द्वारा, हे जनक! तू भयरहित हो गया)।

२—अकार का अर्थ ऋग्वेद, जाग्रदवस्था, भूर्लोक और ब्रह्मा है। उकार का अर्थ यजुर्वेद, स्वप्नावस्था, भुवर्लोक और विष्णु है। मकार का अर्थ सामवेद, सुषुप्ति, स्वर्लोक और महेश्वर है।

३—यद्यपि अर्धमात्रा में कोई भेद नहीं है तथापि दीर्घकाल तक प्लुतोच्चारण से भेद प्रतीत होता है। इस श्लोक का विषय अतिगूढ़ है और गुरुकृपा से ही जाना जा सकता है। जिज्ञासु पुरुषों को माण्डूक्योपनिषद्, गौडपादाचार्यकृत कारिका, पञ्चीकरणवार्तिक आदि ग्रन्थों को गुरुमुख से पढ़ना चाहिये।)

ओम् यह पद है, शब्द है। ओम् कैसे बनता है? अ,उ,म् इन तीन अक्षरों को जोड़कर ओम् बनता है। अ,उ,म् तीन वर्ण हैं। ये अकार, उकार, मकार वेदों को बताते हैं। वेदों को त्रयी क्यों कहते हैं? वेद तो चार हैं पर रचना के हिसाब से, अर्थात् गद्य, पद्य और गीत– तीन तरह की रचनाओं में वेद है अत: उसे त्रयी कहते हैं। तीनों वेदों को अकार, उकार, मकार से कह दिया। जिस प्रकार यह रूपरचना हमारे सामने है उसी प्रकार वेदरचना है, यही शब्दों का आधार है। नामरूपात्मक सारी सृष्टि है। त्रयी के द्वारा समग्र शब्दों का आधार बतला दिया।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति–ये तीनों परमेश्वर की वृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ हैं। इन्द्रियादि के सहित जो अनुभव करनेवाला 'मैं' वह विश्व। इन्द्रियादि के बिना केवल मन के विषय का ग्रहण करनेवाला 'मैं' तैजस्। तथा इन्द्रिय और मन के बिना केवल अज्ञान का अनुभव करनेवाला 'मैं' प्राज्ञ। इसी प्रकार इस सारे स्थूल, संसार का

नियमन करनेवाला वैश्वानर, विराट्। इसको चलाने के नियन्त्रण को करनेवाला हिरण्यगर्भ। और इन सब चीजों को अपने साथ एक कर देने वाला ईश्वर। इस प्रकार तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ दोनों की ये तीनों वृत्तियाँ हैं। ये भी अकारादि तीन से समझनी चाहिये।

इस ब्रह्माण्ड के अन्दर जितने लोक हैं, वे भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों के अन्दर आ जाते हैं। सत्त्वगुण की उपाधि को धारण करनेवाले विष्णु, रजोगुण की उपाधि को धारण करने वाले ब्रह्मा, तमोगुण से उपलक्षित होनेवाले रुद्र हैं। इन तीनों सुरों के अन्तर्गत सारे ही अन्य सुरों को ले लेना चाहिये। इस प्रकार अकार, उकार, मकार के द्वारा शब्दसृष्टि को कह दिया, अवस्थाओं की सृष्टि को कह दिया, अवस्थाओं के अभिमानियों को कह दिया, समग्र लोकों को कह दिया, सभी नियामकों को, देवताओं को कह दिया। इस प्रकार अलग-अलग निरूपण ओम् से हो जाता है। यह हो गया ओम् का व्यस्त रूप अर्थात् अ, उ, म् को व्यस्त कर देवें, अलग-अलग कर देवें तो उसका अभिप्राय यह सब हो जाता है।

और 'समस्तम् ओम् इति पदम्।' अगर ओम् को अलग-अलग नहीं करते हैं तो सारे विकारों से उत्तीर्ण रूप का वह बोधक बनता है- सारे विकारों से रहित अर्थात् अवस्था के विकारों से रहित, सृष्टि स्थिति के विकारों से रहित, तदभिमानों से रहित। जितने ये विकार बताये हैं उन सारे अभिमानों से उत्तीर्ण हुआ इन सारे विकारों से निकला हुआ जो आपका तुरीय रूप है अधिष्ठान रूप है, वह आपका धाम है। धाम का अर्थ होता है निश्चित स्वरूप। स्थायी निवास को धाम कहते हैं। पुराने लोग पूछते भी थे, 'भाई! अपना नाम-धाम बताओ।' यह जो तुरीय रूप है, अधिष्ठान रूप है, यही परमेश्वर का धाम है। जैसे ही विकारों की दृष्टि को छोड़कर ध्यान करते हो, वह परमात्मा अवश्य ही वहाँ मिलता है।

विकारों में परमात्मा तो मिलेगा पर विकाररूप उपाधि भी मिलेगी। विकारों में भी परमेश्वर रूप ज़रूर है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये सभी परमात्मा के रूप हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ भी परमात्मा का स्वरूप हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ भी परमात्माका स्वरूप हैं। यद्यपि ये सभी परमात्मा के स्वरूप हैं, तथापि परमस्वरूप नहीं हैं,

क्योंकि कभी परमात्मा इन स्वरूपों में रहता है, कभी दूसरे स्वरूपों में रहता है। परन्तु अधिष्ठान तो धाम ही है, वहाँ उनके सिवाय और कोई नहीं है, वह कभी बदलता नहीं। अत: कहा 'तुरीयं ते धाम।'

समस्त ओंकार कैसे समझ में आता है? ज़रा साधना की बात बताते हैं: ओंकार का उच्चारण जब तुम प्लुत में करते हो तो मकार की गूँज चलती है। धीरे-धीरे वह गूँज विलीन होती चली जाती है। उसके ऊपर जब चित्त एकाग्र किया जाता है तब धीरे-धीरे चित्त लय हो जाता है। जब तक ओंकार का केवल दीर्घ उच्चारण किया तब तक उससे मनोराज्य को जीत लिया जा सकता है, 'दीर्घप्रणवम् उच्चार्य मनोराज्यं विजीयते', परन्तु यदि उसके तुरीय रूप को जानना है तो ओंकार की सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनियों पर चित्त को लगाना पड़ेगा। जितना तुम उन ध्वनियों को सूक्ष्म करते चले जाओगे, उतना ही वह स्पष्ट होने लगता है। यह 'ओम्' की ही विशेषता है, और किसी भी गूंज को लो, तो वह बात नहीं होती। अत: आचार्य शंकर स्पष्ट कहते हैं कि ओंकार उस ब्रह्म का सबसे नजदीक का नाम है। यह धीरे-धीरे अभ्यास किया जाता है, तब मन उसको पकड़ पाता है।

'शरणद!' आप शरण देनेवाले हैं। इस साधना के द्वारा आपका धाम प्रकट होता है ऐसा नहीं, वह तो आपकी कृपा से ही होता है। आप शरण देनेवाले हैं अत: ओंकार के माध्यम से जो आपकी शरण लेता है,उसके सामने आपका अधिष्ठान रूप प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार ओम् एक पद होने पर भी, इसके व्यस्त रूप से पदार्थों का प्रतिपादन हो गया और समस्त रूप से वाक्यार्थ का प्रतिपादन हो गया। त्वंपदार्थ, तत्पदार्थ और दोनों की एकता का प्रतिपादन कर दिया।।२७।।

श्लोक-२८

पूर्वश्लोक में प्रणवानुसार भगवान् की उपासना का विधान किया। प्रणव मंत्र भी सूक्ष्म है और उसका प्रतिपाद्य अखण्डार्थ तो अतिसूक्ष्म है अत: मन्द और साधारण अधिकारियों के लिये ॐ के अनुसार ध्यानादि करना या ॐ का अर्थ

समझना संभव नहीं। ऐसों को भगवान् का कैसे स्मरणादि करना चाहिये यह बताते हैं–

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहाँ-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव! श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने* प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते।।२८।।

(पदच्छेदः)

भवः शर्वः रुद्रः पशुपतिः अथ उग्रः सहमहान्
तथा भीमेशानौ इति यत् अभिधानाष्टकम् इदम्।
अमुष्मिन् प्रत्येकम् प्रविचरति देव! श्रुतिः अपि
प्रियाय अस्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्यः अस्मि भवते।।

(सान्वयार्थः)

देव! = हे स्वयंप्रकाशरूप! **भवः** = भव (संसार का स्रष्टा), **शर्वः** = शर्व (भक्तसुखदायक), **रुद्रः** = रुद्र (दुष्टों को रुलाने वाला), **पशुपतिः** = पशुपति (संसार का मालिक) **अथ** = और **उग्रः** = उग्र (प्रचण्ड ज्ञानाग्नि), **सहमहान्** = महादेव **तथा** = तथा **भीमेशानौ** = भीम (पापियों के लिए भयंकर), ईशान (संसार का शासक) **इति** = इतने **इदम्** = ये **यत्** = जो **अभिधानाष्टकम्** = आठ नाम, **अमुष्मिन्** = इनमें से **प्रत्येकम्** = एक एक नाम का **श्रुतिः** = वेद, **अपि** = स्मृति, पुराण, इतिहासादि **प्रविचरति** = सर्वोत्कृष्टतया बोध कराते हैं। **अस्मै** = ऐसे (स्वप्रकाश रूप से सर्वदा प्रत्यक्ष) **धाम्ने** = सब के शरण, **प्रियाय** = परमप्रिय **भवते** = आपको **प्रणिहितनमस्यः** = वाणी, मन और शरीर से नमस्कार करता **अस्मि** = हूँ।

(पूर्वमन्त्र में प्रणवरूप से भगवान् की उपासना बताई। उसमें अनधिकारी मन्दाधिकारी के लिए इन मन्त्रों द्वारा उपासना बताई।)

***प्रविहित** पाठभेद है।

सम्बोधित किया 'देव' अर्थात् जिनका स्वरूप स्वप्रकाश है उन भगवान् के प्रधान आठ नाम वेद, स्मृति, इतिहास आदि बताते हैं। आठों नाम सर्वोत्तम

हैं तथा इनमें हर-एक भी सर्वोत्तम है! भगवान् सर्वोत्तम होने से इनके नाम सर्वोत्तम हों यह उचित ही है। आठ नाम ये हैं-१) भव अर्थात् संसार की सृष्टि करने वाला। २)शर्व-भक्तों को सुख देने वाला। ३) रुद्र- दुष्टों को रुलाने वाला। ४) पशुपति- संसार का मालिक। ५) उग्र- प्रचण्ड ज्ञानाग्निरूप। ६) महादेव-देवताओं से भी महान्। ७) भीम-पापियों के लिये भयंकर। ८) ईशान-संसार का शासक।-ये आठ नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनका जप और इनके भाव का चिन्तन करना चाहिये। पूर्व में जो आठ मूर्तियाँ बतायीं थी उनसे इन नामों का सम्बंध भी हैं। प्रतिदिन.शिवपूजा करने वाले लोग इन नामों से एक -एक मूर्ति को याद कर प्रणामपूर्वक पुष्प चढ़ाते हैं। केवल स्मरण भी आठों मूर्तियों का इन नामों से किया जा सकता है, एक-एक मन्त्र का उच्चारण कर भगवान् को प्रणाम करना चाहिये। मूर्तियों के बोधक होकर ये आठ मंत्र बन जाते हैं- १) ॐ शर्वाय क्षितिमूर्तये नमः। २) ॐ भवाय जलमूर्तये नमः। ३) ॐ रुद्रायाऽग्निमूर्तये नमः। ४) ॐ उग्राय वायुमूर्तये नमः। ५) ॐ भीमायाकाशमूर्तये नमः। ६) ॐ पशुपतये यजमानमूर्तये नमः। ७) ॐ महादेवाय सोममूर्तये नमः। ८) ॐ ईशानाय सूर्यमूर्तये नमः। - यों भगवान् का स्मरण सबको रोज करना चाहिये।

इन आठ नामों वाले, आठ मूर्तियों वाले शिव सर्वदा प्रत्यक्ष हैं, सबको शरण देते हैं तथा सबके परमप्रिय हैं। उन्हें सदा नमस्कार करना चाहिये। नमस्कार में तीनों का प्रयोग होता है - मन में नमनका भाव रखे, वाणी से 'मैं नमस्कार कर रहा हूँ' ऐसा उच्चारण करे और शरीर से दण्डवत् आदि तरीके से प्रणाम करे। पुष्पदंत कहते हैं 'मैं आपके योग्य कोई उपचार समर्पित नहीं कर सकता, केवल मन-वाणी-शरीर से आपको प्रणाम करता हूँ।' इस प्रणाम से ही भगवान् खुश हो गये और पुष्पदंत को अदृश्य रहने की सामर्थ्य पुनः मिल गयी अतः प्रणाम का अत्यन्त महत्त्व है।।२८।।

श्लोक-२९

वास्तव में अखण्ड रहते हुए भी, ॐकार से केवल लक्षित रहते हुए भी परमेश्वर आठ रूप धर कर आठ नामों से समझे जा सकने वाले बन जाते हैं ताकि भक्त उन्हें आराम से प्रणाम कर सकें। पूर्वश्लोक में आठ नाम बताये, अब

आठ बार 'नमः' कहकर जिनकी महिमा समझना अशक्य है उन महादेव की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हुए प्रणाम करते हैं-

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव ! दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर! महिष्ठाय च नमः
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन! यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः।।२६।।

(पदच्छेद स्पष्ट है)

(सान्वयार्थः)

प्रियदव! = हे निर्जन प्रदेश में विहार के रसिक! **ते** = आपके **नेदिष्ठाय** = अत्यन्त निकट रहने वाले स्वरूप को **नमः** = नमस्कार है, **च** = और **दविष्ठाय** = अत्यन्त दूर रहने वाले स्वरूप को **नमः** = नमस्कार है। **स्मरहर!** = हे कामदेव का नाश करने वाले! **क्षोदिष्ठाय** = (आपके) परम लघुरूप को **नमः** = नमस्कार है, **च** = और **महिष्ठाय** = परम महान् रूप को **नमः** = नमस्कार है। **त्रिनयन!** = हे तीन आँखों वाले! **वर्षिष्ठाय** = (आपके) सबसे अधिक बूढ़े रूप को **नमः** = नमस्कार है। **च** = और **यविष्ठाय** = सबसे अधिक जवान रूप को **नमः** = नमस्कार है। **सर्वस्मै** = सर्वरूप (आप) को **नमः** = नमस्कार है **च** = और **तदिदमितिसर्वाय** = परोक्ष–अपरोक्ष सब तरह से अनिर्वचनीय आपके रूप को **नमः** = नमस्कार है।

(इसमें भगवान् की अनिर्वचनीयता का वर्णन किया गया है। भगवान् ही संसार में सब रूपों से प्रकाशित हो रहे हैं और भगवान् ही इन सबसे परे इन सबके अधिष्ठान रूप से भी प्रकाशित हो रहे हैं।)

इसमें तीन सम्बोधन दिये-१) प्रियदव निर्जनप्रदेश में विहार के रसिक। २) स्मरहर काम-नाशक। ३) त्रिनयन -तीन आँखों वाले। परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले रूपों को यहाँ प्रणाम किया गया है। भगवान् का एक रूप नेदिष्ठ है अर्थात् अत्यन्त निकट रहने वाला है और एक रूप दविष्ठ है अर्थात् अत्यन्त दूर रहने वाला है। वेद में भी बताया कि वह दूर से भी सुदूर रहते हुए ही समीप

से भी समीप है! ईशोपनिषत् में कहा 'तद् दूरे तद्वन्तिके'। भाष्यकार उसका अर्थ समझाते हैं कि अज्ञानियों के लिय अनन्तकाल में भी उसे पाना संभव न होने से वह दूर है और ज्ञानी उसे अपना आत्मा मानते हैं अत: वह पास है। इसी प्रकार वे क्षोदिष्ठ अर्थात् परम लघु हैं और साथ ही महिष्ठ अर्थात् परम महान् हैं। कठोपनिषद् में भी उन्हें अणु से अधिक अणु और महान् से ज्यादा महान् बताया है। दुर्बोध और व्यापक होने से या सर्वरूप होने से दोनों बातें समीचीन हैं। ऐसे ही वर्षिष्ठ अर्थात् सबसे बूढ़े तथा यविष्ठ अर्थात् सबसे जवान वे ही हैं। श्वेताश्वतर में उन्हें कुमार और जीर्ण एक साथ कहा है। सर्वकारण होने से सर्वाधिक वृद्ध हैं एवं प्रतिवृत्ति प्रतिफलित होने से सर्वाधिक युवा हैं। परोक्ष - अपरोक्ष सब तरह से अनिर्वचनीय रूप वाले परमात्मा ही सर्वरूप हैं। भगवान् ही संसार में सब रूपों से प्रकाशित हो रहे हैं और वे ही इन सबसे परे, इनके अधिष्ठान रूप से भी प्रकाशमान हैं।

'तदिदमितिसर्व' शब्द का अर्थ है कि तत् और इदम् इन प्रकारों से जिसका निर्वचन संभव नहीं वह सब उन परमशिव में अधिष्ठित है। अत: परमेश्वर को अनिर्वचनीय नहीं कह रहे क्योंकि वह तो सच्चिदानन्दस्वरूप है, उस पर अध्यस्त जो उसके रूप हैं उनकी अनिर्वचनीयता को स्पष्ट कर रहे हैं। ऐसे विरुद्ध रूप धरने वाले को बारम्बार प्रणाम है।।२९।।

श्लोक - ३०

उपक्रम में 'गुणभिन्न तीन शरीरों' का वर्णन आया था जो सुबोध है और उनसे अतीत दुर्बोध परमार्थ स्वरूप का उल्लेख किया था। उपसंहार में वही कहते हुए पुनरपि प्रणाम करते हैं -

***बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः**
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः।।३०।।

(पदच्छेद स्पष्ट है)

(सान्वयार्थः)

विश्वोत्पत्तौ = संसार की उत्पत्ति के लिये **बहुलरजसे** = तमोगुण और सत्त्वगुण से अधिक हो गया है रजोगुण जिनका **भवाय** = उन भवमूर्ति ब्रह्मा जी को **नमोनमः** = बार–बार नमस्कार है। **तत्संहारे** = संहार करने के लिये **प्रबलतमसे** = सत्त्व और रजोगुणो से नहीं दब सके ऐसे तमोगुण वाले **हराय** = हरमूर्ति रुद्रजी को **नमोनमः** = बार बार नमस्कार है। **जनसुखकृते** = लोगों के सुख के लिए **सत्त्वोद्रिक्तौ** = रजोगुण और तमोगुण से सत्त्वगुण के बढ़ जाने पर **मृडाय** = मृडरूप विष्णु जी को **नमोनमः** = बार बार नमस्कार है। **निस्त्रैगुण्ये** = तीनों गुणों से अछूत **पदे** = पद की प्राप्ति के लिये **प्रमहसि** = माया से शून्य शुद्ध चैतन्य रूप **शिवाय** = सदाशिव आपको **नमोनमः** = बार बार नमस्कार है।

(चतुर्थ श्लोक के "तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु" की व्याख्या यहाँ की गयी। भगवान् शंकर ही गुण और गुणरहित के भेद से ब्रह्मादिक बने हैं।)

***बहल** पाठभेद है।

तमोगुण - सत्त्वगुण की अपेक्षा रजोगुण जिसमें अधिक है वह 'भव' नामक मूर्ति है। संसार की उत्पत्ति के लिये भगवान् ब्रह्मा जी का रूप धरते हैं तब यह स्थिति होती है। उस रूप वाले को बार-बार प्रणाम है। संसार का संहार करने के लिए 'हर' नामक रुद्रमूर्ति धारण की जाती है जिसमें तमोगुण सत्त्व और रजो गुणों से दबता नहीं। उन्हें बार-बार प्रणाम है। लोगों के सुख के लिए रजोगुण व तमोगुण से सत्त्वगुण बढ़ जाने पर 'मृड' नामक विष्णुमूर्ति को बार-बार नमस्कार है। ये तीनों मूर्तियाँ तीन गुणों की उपाधियों में हैं। जिसकी ये मूर्तियाँ है अर्थात् उपाधिवश जो इन रूपों में प्रतीत हो जाता है वह वास्तव में तीनों गुणों से रहित है, परम प्राप्तव्य है, माया से शून्य शुद्ध चैतन्य है। उस तत्त्व की प्राप्ति के लिए सदाशिव को पुनः पुनः नमस्कार है।

इस प्रकार सारी स्तुति में विस्तार से जिसका वर्णन किया उसी का संक्षेप में निर्देश कर प्रणाम किया। उद्रिक्त गुण से उपहित प्रतीत होने पर उस रूप को

भी शिवरूप समझे और वास्तव में शिव निरुपाधि है यह स्मरण कर ले तो सनातन प्रणाम हो जाने से साधकका अवश्य कल्याण होता है, यह भाव है।

श्लोक- ३१

प्रारंभ में ही पुष्पदन्ताचार्यने कह दिया था कि भगवान् की स्तुनि के लिये वे स्वयं वाणी पवित्र करने के लिये स्तोत्ररचना कर रहे हैं। अपनी असमर्थता ही व्यक्त करते हुए इस स्तुति को भगवान् के चरणों में अर्पित करते हैं:

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धिः।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम्।।३१।।

(पदच्छेदः)

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यम् क्व च इदम्
क्व च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वत् ऋद्धिः।
इति चकितम् अमन्दीकृत्य माम् भक्तिः आधात्
वरद! चरणयोः ते वाक्यपुष्पोपहारम्।।

(सान्वयार्थः)

वरद! = हे मोक्ष देनेवाले! **क्व** = कहाँ **च** = तो **इदम्** = यह (मेरा) **कृशपरिणति** = थोड़े से विषयों को जानने वाला **क्लेशवश्यम्** = हमेशा ही रागद्वेषादि हजारों दोषों से भरा हुआ **चेतः** = मन **च** = और **क्व** = कहाँ **तव** = आपकी **गुणसीमोल्लंघिनी** = अनन्त गुणों वाली असीम **शश्वत्** = (और) हमेशा रहने वाली **ऋद्धिः** = महिमा और ऐश्वर्य **इति** = इससे **चकितम्** = डरे हुए **माम्** = मुझको **अमन्दीकृत्य** = बल से स्तुति कराने में लगाकर **भक्तिः** = आपकी भक्ति ने **ते** = आपके **चरणयोः** = चरणों में **वाक्यपुष्पोपहारम्**[१] = वाक्य रूपी फूल की भेंट **आधात्** = चढ़ायी।

(१–जैसे फूल अपने प्रेमी भौरों को तो सुगन्ध और मधु दोनों ही देता है, परन्तु रास्ते जाने वालों को सुगन्ध तो दे ही देता है वैसे ही यह स्तोत्र

शिवभक्तों को श्रवणसुख और भोग एवं मोक्ष सभी देता है, परन्तु अभक्तों को भी श्रवणसुख तो देता ही है। इसीलिये फूल से तुलना की गई।

कुछ प्राचीन साम्प्रदायिक टीकाकारों के अनुसार महिम्नस्तोत्र यहीं सम्पूर्ण हो जाता है। इसके आगे फलबोधक वचन हैं।)

'वर' अर्थात् नि:सीम श्रेष्ठता वाली एक ही चीज है मोक्ष और उसे देने वाले एक महादेव ही हैं अत: उन्हें वरद कहते हैं। उनकी महिमा, उनका ऐश्वर्य अनन्त गुणों वाला, असीम और हमेशा रहने वाला है। लौकिक महिमाओं में ऐसा कुछ देखने में नहीं आता, शिव की महिमा अलौकिक ही है। पुष्पदन्त कहते हैं कि आपकी महत्ता तो श्रेष्ठताओं की सीमा से परे है और मेरा मन थोड़े से विषय जानने वाला एवं हमेशा ही राग-द्वेष आदि हजारों दोषों से भरा रहता है अत: अत्यन्त तुच्छ है। यों आपकी महिमा और मेरा मन- ये बेमेल पदार्थ होने से मैं डरता ही रहता हूँ कि मैं आपकी स्तुति कैसे करूँ! फिर भी आपकी भक्ति ने बलपूर्वक मुझे आपकी स्तुति करने में लगाकर आपके चरणों में यह वाक्यरूप फूलों की भेंट चढ़ायी है। क्योंकि भक्ति के निर्देशन में ही मैंने यह स्तुति गायी इसलिये इसमें हुई गलतियों के लिये मैं माफ किया जाने लायक ही हूँ। लोक में भी करने वाले की अपेक्षा कराने वाला का दायित्व ही अधिक माना जाता है। 'भक्ति ने भेंट चढ़ायी' कहकर अपनी निरभिमानता तो स्पष्ट कर ही दी।

स्तुति की फूल से तुलना की है : फूल अपने प्रेमी भौरों को सुगन्ध और मधु दोनों ही देता है पर रास्ते जाने वाले को भी सुगंध तो दे ही देता है। इसी तरह यह स्तोत्र शिवभक्तों को श्रवणसुख, भोग एवं मोक्ष सभी देता है पर जो भक्त नहीं उन्हें भी श्रवणसुख तो देता ही है।।३१।।

कुछ साम्प्रदायिकों के अनुसार महिम्न:स्तोत्र यहीं संपूर्ण हो जाता है, इससे आगे फलबोधक वचन, क्षमा-प्रार्थना आदि हैं। समय कम हो तो प्रतिदिन यहीं तक पाठ भी किया जा सकता है पर जहाँ तक हो सके पूरे स्तोत्रका पाठ करना ही उचित है।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुंरतरुवरशाखा लेखनीं पत्रमुर्वी।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।३२।।

(पदच्छेद:)

असितगिरिसमम् स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखालेखनीं पत्रम् उर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्
तत् अपि तव गुणानाम् ईश! पारम् न याति।।

(सान्वयार्थ:)

ईश! = हे सबको अपने शासन में रखने वाले! **यदि** = अगर **असितगिरिसमम्** = काले पहाड़ के जितनी **कज्जलम्** = स्याही **सिन्धुपात्रे** = समुद्र रूपी दवात में (घोलकर) **उर्वी** = समस्त पृथिवी रूप **पत्रम्** = कागज **स्यात्** = हो और उस पर, **शारदा** = स्वयं सरस्वती **सुरतरु-वरशाखा** = कल्पवृक्षरुप **लेखनीं** = कलमको **गृहीत्वा** = लेकर **सर्वकालम्** = निरन्तर और काल की समाप्ति तक **लिखति** = लिखती रहे **तत्** = तो **अपि** = भी **तव** = आपके **गुणानाम्** = गुणों का **पारम्** = अन्त **न** = नहीं **याति** = आयेगा।

(भावार्थ यह है कि इतनी असम्भावित सामग्री इकट्ठी हो भी जावे तो भी महादेव के अनन्त गुणों का पार नहीं पावेंगे।)

हे ईश! सबको अपने शासन में रखने वाले! असम्भावित सामग्री इकट्ठी हो जावे तो भी महादेव के अनन्त गुणों का पार नहीं पाया जा सकता। लेखक बनकर साक्षात् सरस्वती जी उपस्थिति हो जायें, समुद्र को दवात बनाकर उसमें काले पहाड़ जितनी स्याही घोल दी जाये, सारी पृथ्वी वह कागज बने जिस पर लिखना है और समूचे काल में सरस्वती लगातार कल्पवृक्षरूप कलम लेकर लिखती ही जाये! यद्यपि ऐसा सब संभव नहीं तथापि मान लें ऐसा हो जाये तब भी आपके गुणों का अन्त नहीं आ सकता।।३२।।

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य।

सकलगणवरिष्ठः* पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार।।३३।।

(पदच्छेदः)

असुरसुरमुनीन्द्रैः अर्चितस्य इन्दुमौलेः
ग्रथितगुणमहिम्नः निर्गुणस्य ईश्वरस्य।
सकलगणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानः
रुचिरम् अलघुवृत्तैः स्तोत्रम् एतत् चकार।।

(सान्वयार्थः)

सकलगणवरिष्ठः = शंकर के सेवकों में सर्वश्रेष्ठ **पुष्पदन्ताभिधानः** = पुष्पदन्त नाम के गन्धर्व ने **असुरसुरमुनीन्द्रैः** = प्रमुख राक्षस, देवता और मुनियों द्वारा **अर्चितस्य** = पूजा किये हुए, **निर्गुणस्य** = सर्वगुणों से रहित, **ईश्वरस्य** = सर्व संसार के परम अधिनायक **इन्दुमौलेः** = भगवान् चन्द्रशेखर की **ग्रथितगुणमहिम्नः** = गुणों से गुम्फित महिमा वाले **एतत्** = इस **रुचिरम्** = मनोरम **स्तोत्रम्** = स्तोत्र को **अलघुवृत्तैः** = बड़े (शिखरिणी) छन्दों से युक्त **चकार** = बनाया।

***गुणवरिष्ठः** पाठभेद है।

समस्त विशेषताओं से अतीत परब्रह्म ही सारे संसार के परम अधिनायक बनकर वह मनोहर रूप धरते हैं जिसमें चन्द्रकला उनके मस्तक पर शोभती है। उस रूप की अर्चना सभी प्रमुख राक्षस, देवता व मुनि किया करते हैं। उसी रूप वाले भगवान् शंकर के सेवकों में सर्वश्रेष्ठ 'पुष्पदन्त' नामक गंधर्व ने शिवगुणों से गुम्फित महिमा वाले इस रोचक स्तोत्र की रचना शिखरिणी नामक बड़े छन्दों में की है।।३३।।

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमाँश्च।।३४।।

(पदच्छेद:)

अहरहः अनवद्यम् धूर्जटेः स्तोत्रम् एतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः।
सः भवति. शिवलोके रुद्रतुल्यः तथा अत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमान् च।।

(सान्वयार्थः)

यः = जो **पुमान्** = मनुष्य **परमभक्त्या** = परा भक्ति से **शुद्धचित्तः** = मन को शुद्ध करके **धूर्जटेः** = त्रिलोकीनाथ शंकर के **एतत्** = इस **अनवद्यम्** = दोषरहित **स्तोत्रम्** = स्तोत्र को **अहरहः** = दिन प्रतिदिन **पठति** = पढ़ता है, **सः** = वह **अत्र** = इस लोक में **प्रचुरतरधनायुः** = खूब धन और लम्बी आयु वाला **पुत्रवान्** = पुत्रादि कुटुम्ब वाला **च** = और **कीर्तिमान्** = यशवाला **तथा** = तथा **शिवलोके** = (मरने के बाद) कैलास में **रुद्रतुल्यः** = सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने वाला **भवति** = होता है।

गंगा जिनकी जटा को शोभित करती है उन त्रिलोकीनाथ के इस स्तोत्र में कोई दोष नहीं है। शुद्ध चित्त वाला जो पुरुष परा भक्ति से इसे प्रतिदिन पढ़ता है वह इस लोक में खूब धन, लम्बी उमर, पुत्रादि कुटुम्ब और सत्कीर्ति वाला हो जाता है तथा मृत्यु के बाद कैलासलोक में सायुज्य मुक्ति पा लेता है, स्वयं रुद्र जैसा हो जाता है।।३४।।

दीक्षा दानं तपस्तीर्थस्नानं यागादिकाः क्रियाः।
महिम्नस्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।३५।।

(पदच्छेद स्पष्ट है)

(सान्वयार्थः)

दीक्षा = व्रत **दानम्** = धन का दान, **तपः** = शारीरिक तप, **तीर्थस्नानम्** = तीर्थ में स्नान, **यागादिकाः** = यज्ञ पूजा वगैरह सभी **क्रियाः** = क्रियाएँ **महिम्नस्तवपाठस्य** = महिम्न स्तोत्र पाठ की **षोडशीम्** = सोलहवीं **कलाम्** = कला के भी (रुपये में एक आना) **न अर्हन्ति** = योग्य नहीं हैं।

व्रत, दान, तपस्या, तीर्थस्नान, यज्ञ आदि सभी क्रियाएँ महिम्न-स्तोत्र के पाठ की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं। अर्थात् इस स्तोत्र के पाठ का मूल्य यदि एक रुपया हो तो उक्त क्रियाओं का मूल्य एक आना भी नहीं होता। तात्पर्य है कि इसके पाठ का बहुत महत्त्व है। कहीं-कहीं 'तीर्थं ज्ञानं।' ऐसा पाठ मिलता है किन्तु आगे 'क्रियाः' कहा जाने से 'तीर्थस्नानं' ही उचित पाठ है। 'ज्ञानं' पाठ में भी ज्ञानसाधनभूत क्रियाओं को ही समझना चाहिये। व्रतादि के अवमूल्यन में तात्पर्य नहीं, महिम्नः पाठ के महत्त्व में ही तात्पर्य है।।३५।।

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं सर्वमीश्वरवर्णनम्।
अनौपम्यं मनोहारि पुण्यं गन्धर्वभाषितम्।।३६।।

(पदच्छेद स्पष्ट है)

इदम् = यह (उपस्थित) **अनौपम्यम्** = सभी स्तोत्रों से महान्, **मनोहारि** = मन को हरने वाला, **पुण्यम्** = पवित्र, **ईश्वरवर्णनम्** = ईश्वर की महिमा के वर्णन से युक्त **गन्धर्वभाषितम्** = गन्धर्व द्वारा कहा हुआ **शिवम्** = कल्याणकारी **स्तोत्रम्** = स्तोत्र **आसमाप्तम्** = पूर्ण रूप से समाप्त हो गया।

गन्धर्व पुष्पदन्त द्वारा कथित यह कल्याणकारी स्तोत्र आदि से अन्त तक ईश्वर का, उनकी महिमा का ही वर्णन करता है। इस पवित्र मनोहर स्तोत्र जैसा अन्य कोई स्तोत्र है नहीं।।३६।।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।।३७।।

(पदच्छेदः)

महेशात् न अपरः देवः महिम्नः न अपरा स्तुतिः।
अघोरात् न अपरः मन्त्रः न अस्ति तत्त्वम् गुरोः परम्।।

(सान्वयार्थः)

महेशात् = भगवान् महेश से **अपरः** = भिन्न **देवः** = कोई देवता **न** = नहीं है। **महिम्नः** = महिम्न से बढ़कर **अपरा** = दूसरा **स्तुतिः** = स्तोत्र **न** = नहीं है। **अघोरात्** = अघोर से बड़ा **अपरः** = कोई अन्य **मन्त्रः** =

मन्त्र **न** = नहीं है। **गुरोः** = गुरु से **परम्** = श्रेष्ठ **तत्त्वम्** = कोई तत्त्व **न** = नहीं **अस्ति** = है।

भगवान् महेश से भिन्न कोई देवता नहीं है। महिम्न से बढ़कर दूसरा स्तोत्र नहीं है। अघोर से बड़ा कोई अन्य मन्त्र नहीं है। गुरु से श्रेष्ठ कोई तत्त्व नहीं है।।३७।।

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
*शिशुशशधरमौलेर्देवदेवस्य दासः।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्
स्तवनमिदमकार्षीद् दिव्यदिव्यं महिम्नः।।३८।।

(पदच्छेद स्पष्ट है)

(सान्वयार्थः)

सः = उस प्रसिद्ध **कुसुमदशननामा** = पुष्पदन्त नाम वाले **सर्वगन्धर्वराजः** = सब गन्धर्वों के राजा ने, **शिशुशशधरमौलेः** = द्वितीया के चन्द्रमा को शिर पर धारण किये हुए **देवदेवस्य** = देवाधिदेव महादेव के **दासः** = दास ने **अस्य** = उन महादेव के **रोषात्** = गुस्से से **एव** = ही **निजमहिम्नः** = अपनी महिमा से **भ्रष्टः** = गिरकर **खलु** = ऐसा सुना जाता है कि **इदम्** = इस **दिव्यदिव्यम्** = सुन्दर और पवित्र **महिम्नः** = महिमा के **स्तवनम्** = स्तोत्र को **अकार्षीत्** = बनाया।

(पुष्पदन्त एक राजा के यहाँ प्रतिदिन फूल चुराने आया करते थे। लेकिन उनमें अदृश्य होने की शक्ति होने के कारण उन्हें कोई पकड़ नहीं सकता था। अन्त में तंग आकर राजा ने बगीचे के फाटक पर शिवनिर्माल्य फैला दिया। पुष्पदन्त के पैर उस पर पड़े और उस अपराध के कारण उनकी अन्तर्हित होने की शक्ति नष्ट हो गई। ध्यान के द्वारा पता लगने पर उन्होंने महेश की स्तुति इसी "शिवमहिम्नःस्तोत्र" से की जिससे आशुतोष ने इनको क्षमा करके इनकी शक्ति इनको वापस दे दी। ऐसी कथा प्रसिद्ध है जिसका वर्णन यहाँ है।)

***शशिधरवर** पाठभेद है।

सब गंधर्वों में श्रेष्ठ हुए हैं पुष्पदन्त। द्वितीया के चंद्र को सिर पर धारण करने वाले देवाधिदेव महोदव के वे दास थे। महादेव के गुस्से के कारण ही पुष्पदन्त की अदृश्य रह सकने की महिमा लुप्त हो गयी थी। सुना जाता है कि तभी उन गंधर्वराज ने सुंदर व पवित्र महिमा के इस स्तोत्र की रचना की। यह कथा पहले बता चुके हैं। स्तोत्र से प्रसन्न होकर आशुतोष ने पुष्पदन्त को क्षमाकर उनकी शक्ति पुनः प्रदान कर दी थी।।३८।।

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम्।।३६।।

(पदच्छेदः)

सुरवरमुनिपूज्यम् स्वर्गमोक्षैकहेतुम्
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिः न अन्यचेताः।
व्रजति शिवसमीपम् किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनम् इदम् अमोघम् पुष्पदन्तप्रणीतम्।।

(सान्वयार्थः)

यदि = अगर न **अन्यचेताः** = एकाग्रचित्त होकर **प्राञ्जलिः** = (और) हाथ जोड़ कर **मनुष्यः** = (कोई) मानव **सुरवरमुनिपूज्यम्** = देवताओं और मननशील संन्यासियों द्वारा प्रशंसित, **स्वर्गमोक्षैकहेतुम्** = स्वर्ग और मोक्ष दोनों का एक ही कारण **पुष्पदन्तप्रणीतम्** = पुष्पदन्त के बनाये हुये **इदम्** = इस **अमोघम्** = कभी व्यर्थ न जाने वाले **स्तवनम्** = स्तोत्र को **पठति** = पढ़ता है, **किन्नरैः** = (तो वह आदमी) किन्नरों से **स्तूय्मानः** = प्रशंसा प्राप्त करता हुआ **शिवसमीपम्** = शिवजी के समीप **व्रजति** = चला जाता है।

(जब केवल पढ़ने का यह फल है तब अर्थ सहित मनन तो साक्षात् मोक्ष देगा इसमें शंका ही क्या है।)

पुष्पदन्त-विरचित यह स्तोत्र कभी व्यर्थ नहीं जाता। श्रेष्ठ देवता और मननशील संन्यासी इस स्तवन की प्रशंसा करते हैं। यह अकेला ही स्वर्ग और मोक्ष

दोनों का हेतु बन सकता है। अगर एकाग्र-चित्त होकर, हाथ जोड़कर कोई मानव इस स्तोत्र को पढ़ता है तो किन्नरों से प्रशंसा प्राप्त करते हुए शिवजी के समीप चला जाता है। केवल पढ़ने का इतना फल है तो अर्थमनन के फल का क्या कहना!३९।।

श्रीपुष्पदन्तमुखपंकजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः।।४०।।

(पदच्छेद स्पष्ट है।)

(सान्वयार्थः)

कण्ठस्थितेन = कण्ठस्थ करके (याद करके) **समाहितेन** = मन को भगवान् में एकाग्र भाव से लगाकर **पठितेन** = पढ़ने से **श्रीपुष्पदन्तमुखपंकजनिर्गतेन** = श्रद्धेय पुष्पदन्त के मुखरूपी कमल से निकले हुए, **किल्बिषहरेण** = देह, वाणी और मन से किये हुए सारे पापों को नष्ट करने वाले **हरप्रियेण** = संसार के दुःखों को हरने वाले भगवान् शंकर को प्रिय, **स्तोत्रेण** = (इस) स्तोत्र से **भूतपतिः** = जो कुछ है, हुआ है और होगा उस सबके मालिक **महेशः** = भगवान् महेश **सुप्रीणितः** = भली भाँति प्रसन्न **भवति** = होते हैं।

श्रीपुष्पदन्त के मुखकमल से निकला यह स्तोत्र देह वाणी और मनसे किये सारे पाप नष्ट कर देता है। संसार- दुःख का हरण करने वाले भगवान् शंकर को प्रिय इस स्तोत्र को याद कर शिव में चित्त एकाग्र कर पढ़े गये इस स्तोत्र से सत्तावान् वस्तुमात्र के मालिक भगवान् महेश खूब प्रसन्न होते हैं।।४०।।

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः।।४१।।

(पदच्छेद स्पष्ट है)

(सान्वयार्थः)

इति = इस प्रकार **एषा** = यह **वाङ्मयी** = (शब्दों द्वारा दी हुई)

शब्दमयी **पूजा** = पूजा (भेंट) **श्रीमच्छङ्करपादयोः** = महान् महिमा वाले भगवान् शंकर के चरणों में **अर्पिता** = चढ़ायी। **तेन** = इससे **देवेशः** = समस्त देवताओं के शासक **सदाशिवः** = नित्यमंगलमय भगवान् शंकर **मे** = मुझ पर **प्रीयताम्** = प्रसन्न हों।

इस प्रकार यह शब्दरचित भेंट महान् महिमा वाले भगवान् शंकर के चरणों में चढ़ाई। समस्त देवताओं के शासक, नित्य मंगलमय भगवान् शिव इस अर्पण से मुझ पर प्रसन्न हों।।४१।।

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव! प्रसीद परमेश्वर!।।४२।।

(सान्वयार्थः)

देव! = हे सर्वप्रकाशक परमात्मा! **यत्** = (प्रमाद से) जो **अक्षरम्** = अक्षर **पदम्** = (या) शब्द **भ्रष्टम्** = छूट गया (हो) **च** = और **यत्** = जो **मात्राहीनम्** = मात्रा न बोली **भवेत्** = हो **तत्** = वह **सर्वम्** = सब **क्षम्यताम्** = क्षमा करिये। **परमेश्वर!** = हे .शंकर! **प्रसीद** = (मेरे ऊपर) प्रसन्न हों।

हे सर्वप्रकाशक परमात्मा! प्रमादवश जो अक्षर या शब्द बोलने से छूट गया हो और जो मात्रा न बोली हो वह सब क्षमा करिये। इसके पाठ में हुई गलतियाँ माफ करें। हे शंकर! मुझ पर प्रसन्न हों।।४२।।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इति श्रीपुष्पदन्ताचार्यविरचितं श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रं सम्पूर्णम्

ॐ। 'वह' पूर्ण है, 'यह' पूर्ण है। पूर्ण कारण से पूर्ण ही कार्य का उद्गम होता है। कार्यात्मक पूर्ण की पूर्णता का ग्रहण कर पूर्ण ब्रह्म ही बचता है। (यह बृहदारण्यक का अत्यंत सारगर्भित मन्त्र है। आचार्यों ने इसे अनेक तरह से

समझाया है। 'वह' अर्थात् जो परोक्ष है, 'यह' अर्थात् जो प्रत्यक्ष है। निरुपाधिक स्वरूपतः पूर्ण अर्थात् अव्यावृत्त है और सोपाधिक सर्वात्मा होने से पूर्ण है। कार्य की वास्तविक पूर्णता का विद्या से निरावरण हो जाने पर अखण्ड ब्रह्म ही रहता है। यह इसका संक्षेप में अभिप्राय है।) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों के उपशम की प्रार्थना के लिये तीन बार शान्ति शब्द कहा जाता है।

इस तरह पुष्पदन्ताचार्यकृत श्रीशिवमहिम्नः स्तोत्र की व्याख्या पूरी हुई।

श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्

ॐ गजाननं भूतगणाधिसेवितं कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम्।
उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्।।

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर! निरपवादः परिकरः।।१।।

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः।।२।।

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन्! किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता।।३।।

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तुव्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन् वरद! रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः।।४।।

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन् मुखरयति मोहाय जगतः।।५।।

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति।
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर ! संशेरत इमे।।६।।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।७।।

महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद ! तन्त्रोपकरणम्।
सुरास्तां तामृद्धिं विदधति भवद्भ्रूप्रणिहितां
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।।८।।

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन ! तैर्विस्मित इव
स्तुवञ्जिहेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता।।९।।

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश ! यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति।।१०।।

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद् बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर ! विस्फूर्जितमिदम्।।११।।

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः।।१२।।

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः।।१३।।

अकाण्ड-ब्रह्माण्ड-क्षय-चकित-देवासुर-कृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः।।१४।।

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः।।१५।।

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता।।१६।।

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते।
जगद् द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः।।१७।।

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथांगे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः।।१८।।

हरिस्ते साहस्त्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर ! जागर्ति जगताम्।।१९।।

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः* कर्मसु जनः।।२०।।

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद ! सदस्याः सुरगणाः।
क्रतुभ्रेषस्त्वत्तः* क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः।।२१।।

प्रजानाथं नाथ ! प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः।।२२।।

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्ना य तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन! पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत ! देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद ! मुग्धा युवतयः।।२३।।

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर ! पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्त्रगपि नृकरोटी परिकरः।
अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद! परमं मंगलमसि।।२४।।

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्संगितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्।।२५।।

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।।२६।।

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्।।२७।।

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहाँ-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव! श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने* प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते।।२८।।

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव ! दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर! महिष्ठाय च नमः
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन! यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः।।२९।।

*बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः।।३०।।

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धिः।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम्।।३१।।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनीं पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।३२।।

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य।
सकलगणवरिष्ठः* पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार।।३३।।

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान् यः।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमाँश्च।।३४।।

दीक्षा दानं तपस्तीर्थस्नानं यागादिकाः क्रियाः।
महिम्नस्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।३५।।

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं सर्वमीश्वरवर्णनम्।
अनौपम्यं मनोहारि पुण्यं गन्धर्वभाषितम्।।३६।।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।।३७।।

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
*शिशुशशधरमौलेर्देवदेवस्य दासः।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्
स्तवनमिदमकार्षीद् दिव्यदिव्यं महिम्नः।।३८।।

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम्।।३९।।

श्रीपुष्पदन्तमुखपंकजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः।।४०।।

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः।।४१।।

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव! प्रसीद परमेश्वर!।।४२।।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ महादेव शिव शंकर शम्भो उमाकान्त हर त्रिपुरारे।
मृत्युञ्जय वृषभध्वज शूलिन् गंङ्गाधर मृड मदनारे ।।

हर शिव शंकर गौरीशं वन्दे गंङ्गाधरमीशं।
रुद्रं पशुपतिमीशानं कलये काशीपुरिनाथं ।।

जय शम्भो जय शम्भो शिव गौरीशंकर जय शम्भो।
जय शम्भो जय शम्भो शिव गौरीशंकर जय शम्भो।।

शरणं में भवः शंभुः शरणं गिरिजा शिवा।
शरणं श्रीगुरोः पादौ शरणं नान्यदैवतम्।।ॐॐ ॐ।।